श्रीश्रीदामोदराष्टकम्
गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

॥श्रीश्रीराधादामोदरौ विजयतेतमाम्॥

श्रीसत्यव्रतमुनि प्रोक्तम्

श्रीकृष्णद्वैपायन–वेदव्यास–विलिखितं

श्रीदामोदराष्टकम्

परमपूज्यपाद–श्रीगौड़ीय–वैष्णवकुल–मुकुटमणि

श्रील-श्रीयुक्त-सनातन-गोस्वामि-कृतया

दिग्दर्शिनी–नाम्नी–टीकया सहितम्

अन्वय–अनुवाद–टीकानुवाद–दिग्दर्शिनीवृत्तिसहितम्

श्रीगौड़ीय–वेदान्त–समितेः प्रतिष्ठापकवराणां

नित्यलीलाप्रविष्ट–ॐ–विष्णुपाद–परमहंस–स्वामिनां

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान-केशव-गोस्वामि-महाराजानां

पादत्राणावलम्बकेन परिव्राजकाचार्येण

(त्रिदण्डिस्वामिना)

श्रीमद्भक्तिवेदान्त-नारायण-गोस्वामि-महाराजेन

सम्पादितम्

प्रकाशकः
श्रीभक्तिवेदान्त वन महाराज

प्रथम संस्करणः ५००० प्रतियाँ
शारदीय रासयात्रा, ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान
केशव गोस्वामी महाराजजीकी तिरोभाव तिथि
श्रीचैतन्याब्द ५२०
७ अक्टूबर, २००६

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
०९३३३२२२७७५

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५-२४४३१०१

श्रीदामोदराष्टकके सम्बन्धमें दो-एक बातें
(बङ्गला संस्करणसे अनुवादित)

अचिन्त्य-अनन्त-शक्तिमान स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र माता यशोदाके दामबन्धनको स्वीकारकर उनके विशुद्ध-वात्सल्य-प्रेमरस-निर्यासका सम्पूर्ण रूपसे आस्वादन करते हैं और जगतमें अपनी भक्ताधीनताका चरम परिचय प्रदान करते हैं। वह परम मनोहर श्रीदामबन्धन-लीला कार्त्तिक शुक्ला प्रतिपदाके दिन प्रकट करते हैं। परमधन्य कार्त्तिक मासका 'दामोदर' नामसे प्रसिद्धि लाभ करनेका यही प्रधान कारण है। वैष्णव-स्मृतिशास्त्र श्रीहरिभक्तिविलासके प्रणेता आचार्यपाद श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीने कार्त्तिक-व्रत पालन करनेके प्रसङ्गमें कार्त्तिक मासमें प्रतिदिन श्रीराधादामोदरका पूजार्चन एवं 'श्रीदामोदराष्टक' नामक स्तोत्र पाठकी विधिका निर्देश किया है। यथा—

राधिकां प्रतिमां विप्राः पूजयेत् कार्त्तिके तु यः।
तस्य तुष्यति तत्प्रीत्यै श्रीमान् दामोदरो हरिः॥
'दामोदराष्टकं' नाम स्तोत्रं दामोदरार्चनं।
नित्यं दामोदराकर्षि पठेत् सत्यव्रतोदितम्॥

(श्रीहरिभक्तिविलास १६/१९७-१९८)

जो लोग कार्त्तिक महीनेमें श्रीराधिकाकी प्रीतिके लिए उनका पूजार्चन करेंगे, श्रीदामोदर उनके प्रति प्रसन्न होंगे।

श्रीदामोदराष्टक स्तोत्र पद्मपुराणमें नारद शौनकादिके सम्वादमें श्रीसत्यव्रत मुनिके द्वारा कहा गया है। श्रील सनातन गोस्वामिपादने इसकी टीकामें कहा है कि यह स्तोत्र नित्यसिद्ध है, यह श्रीसत्यव्रत मुनिसे प्रकट हुआ है और यह श्रीदामोदर-कृष्णको आकर्षित करनेमें समर्थ है। उन्होंने अपनी अनुभूतिपूर्ण विस्तृत व्याख्यामें इस दामोदराष्टकको सुन्दर रूपमें परिस्फुट किया है।

मैं श्रीदामोदराष्टकको प्रकाश करनेकी अभिलाषा बहुत दिनोंसे पोषण कर रहा था। विशेषतः प्रत्येक कार्त्तिक महीनेमें दामोदर-व्रत पालनके समय हम सभी लोग मिलित होकर एक स्वरसे जब इस श्रीदामोदराष्टकके कीर्त्तनमें प्रवृत्त होते, तब सभी साधकोंके हृदयमें इसे प्रस्फुटित कर देनेकी प्रबल आकांक्षा होती। बहुत-से साधकभक्तोंने मुझसे इस विषयमें विशेष अनुरोध किया था। अब इतने दिनोंके बाद श्रीदामोदराष्टकके संस्कृत मूल, संस्कृत अन्वय और श्रील सनातन गोस्वामिपादकी 'दिग्दर्शिनी' नामक संस्कृतटीका प्रकाशित हुई। संस्कृत भाषासे अनभिज्ञ पाठकोंके लिए मूलश्लोकका बङ्गानुवाद और श्रीसनातन गोस्वामीकी उक्त टीकाका बङ्गानुवाद भी इस ग्रन्थमें सन्निवेशित हुआ है।

वर्त्तमान युगमें संस्कृत भाषाके प्रचलनके प्रति बहुत-से कलिहत बुद्धिवाले मनीषियोंकी विषदृष्टि लक्ष्य की जाती है। ऐसा होनेपर भी हम लोग 'श्रीदामोदराष्टक' नामक संस्कृत ग्रन्थ समग्र देशके हितके लिए प्रकाशित कर रहे हैं। बङ्गला भाषा-भाषी साहित्यिकोंको यह सब प्रकारसे स्मरण रखना कर्त्तव्य है कि बङ्गला भाषाकी उन्नति साधन करनेके लिए संस्कृत भाषा हमारे लिए एकमात्र अवलम्बन है। संस्कृत साहित्यकी उन्नतिके साथ-साथ बङ्गला साहित्यकी भी उन्नति अवश्यम्भावी है। जो लोग संस्कृत साहित्यका उल्लङ्घनकर बङ्गला भाषाकी उन्नतिकी कल्पना करते हैं, वे नितान्त भ्रान्त हैं। इस श्रेणीके साहित्यिकोंकी भाषाकी उच्छृङ्खलता ही हम सब प्रकारसे लक्ष्य किया करते हैं। बङ्गला भाषाकी स्वतन्त्रता संस्कृत भाषाके अधीन है अर्थात् स्वतन्त्र-स्वतन्त्र नहीं है, परतन्त्र-स्वतन्त्र है। हम इसी नीतिके प्रति लक्ष्यकर इस ग्रन्थको विद्वत्समाजमें उपस्थित कर रहे हैं।

दार्शनिक विचार, रचना-कौशल, लीला-विकासकी चमत्कारिता आदिके प्रति लक्ष्य करनेसे श्रीव्यासदेवके द्वारा रचित यह अष्टक साहित्य जगतमें एक आदर्श स्वरूप है। जगद्गुरु श्रील सनातन गोस्वामिपादने आठ श्लोकोंसे सम्वलित इस ग्रन्थकी 'दिग्दर्शिनी'-टीकाकी विशद रूपसे रचनाकर साधन-राज्यके तारतम्यमूलक विचारका प्रदर्शन

किया है। इसमें वात्सल्य और मधुररसकी श्रेष्ठता सब प्रकारसे प्रतिपादित हुई है।

गोस्वामिपादने प्राकृत-सहजियाओंके जहाँ-तहाँ और जैसे-तैसे रासलीला आलोचना करनेकी अवैधता दिखलानेके लिए अष्टम श्लोकके शेषभागमें लिखा है—"ततश्च तया सह रासक्रीडादिकं परमस्तुतित्वेनान्ते वर्णयितुमिच्छन् तच्च परम-गोप्यत्वेनानभिव्यञ्जयन् 'मधुरेण समापयेत्' इति न्यायेन किञ्चिदेव सङ्केतेनोद्दिशन् प्रणमति।" टीकाके इस अंशके बङ्गानुवाद और उसके साथ संलग्न नक्षत्र चिह्नके द्वारा पाद-टीका इस ग्रन्थमें ११६ पृष्ठपर (वर्त्तमान संस्करणमें १०४ पृष्ठपर) मुद्रित हुई है। इसमें सहजिया सम्प्रदायके अनधिकार-चर्चाके सम्बन्धमें विस्तृत विचार दिया गया है।

सहजियागण अपात्र होनेके कारण रासलीला-आस्वादनके किसी भी प्रकार महापात्रके रूपमें गण्य नहीं हो सकते। हम लोग जानते हैं, भक्ति त्रिलोकातीत है। इसे त्रैलोक्यके विचारमें लाना सम्भव नहीं है। वे ऐसा समझते हैं कि जड़ 'चित्' हो जाता है और प्राकृत नेत्रोंसे ही साधनके प्रभावसे भगवान्‌को देखा जाता है—यही प्राकृत-सहजियाओंका विचार है। वे कहते हैं—काँसा रसके संयोगसे जैसे सोना हो जाता है, प्राकृत शरीर भी भजनके प्रभावसे अप्राकृत हो जाता है। तब उसी प्राकृत चक्षुके द्वारा ही भगवान्‌का दर्शन किया जा सकता है। प्राकृत-सहजियाओंकी इस उक्तिको श्रील सनातन गोस्वामीने 'बृहद्भागवतामृत' ग्रन्थमें और श्रीदामोदराष्टककी 'दिग्दर्शिनी' नामक टीकामें सम्पूर्ण रूपसे खण्डन किया है।

मानस दर्शन और प्रत्यक्ष दर्शन

इस प्रसङ्गमें चतुर्थ और षष्ठ श्लोककी टीकाकी विशेष रूपसे आलोचना करना आवश्यक है। उक्त दोनों श्लोकोंके विचारसे प्राकृत सहजियागण ऐसा समझ सकते हैं—मानस ध्यान-दर्शनकी अपेक्षा नेत्र द्वारा दर्शनकी प्रधानताका गोस्वामिपादोंने वर्णन किया है। विशेष लक्ष्य करनेका विषय है कि गोस्वामिपादने ब्रह्माके ध्यानमें प्राप्त दर्शनकी

अपेक्षा गोपकुमारके साक्षात् रूपमें नेत्रोंके द्वारा दर्शनके श्रेष्ठत्वका प्रतिपादन किया है। उसमें गोपकुमारके प्राकृत नेत्रोंके दर्शनका गोस्वामिपादने विचार नहीं किया है। गोपकुमारके वैकुण्ठ-जगतमें अर्थात् अप्राकृत भूमिकामें उपस्थित होनेके बाद चाक्षुष दर्शनकी बात कही गई है। वैकुण्ठ-जगतमें अप्राकृत भूमिमें प्राकृत इन्द्रियोंकी स्थिति नहीं है। इसलिए गोप-गोपियोंका प्रत्यक्षीभूत भगवत्सान्निध्य सब प्रकारसे अप्राकृत और अतीन्द्रिय है। यह प्राकृत सहजियाओंका इन्द्रिय-प्रत्यक्षीभूत व्यापार नहीं है।

पहले ही मैंने कहा है कि श्रीदामोदराष्टक ऊर्ज-व्रत, कार्त्तिक-व्रत या दामोदर-व्रतके उपलक्षमें प्रतिदिन ही कीर्त्तनीय और पठनीय है। जो दामोदर महीनेमें श्रीदामोदरकी प्रीतिकी कामना करते हैं, उन्हें अवश्य ही इस 'दामोदराष्टक' ग्रन्थके सम्पूर्ण अंशको प्रतिदिन पाठ करना चाहिए। यही श्रीहरिभक्तिविलासका विशेष निर्देश है। इस दामोदर-व्रतका विभिन्न रूपसे पालन करनेका निर्देश शास्त्रोंसे जाना जाता है। चातुर्मास्य-व्रतके भीतर ही ऊर्ज-व्रत है। यह एकादशी, द्वादशी और पूर्णिमासे आरम्भ होता है एवं एकादशी, द्वादशी और पूर्णिमाको ही इसकी समाप्ति होती है। फिर भी किसी प्रकारसे इन तिथियोंमें विद्धा तिथिको ग्रहण नहीं करना चाहिए। श्रीसनातन गोस्वामिपाद कहते हैं—वैष्णव-व्रतमात्रमें विद्धाका परित्याग करना चाहिए। इसलिए चातुर्मास्य और ऊर्ज-व्रतके आरम्भ और समाप्तिके समय विद्धा तिथियोंको त्यागकर ही पालन करना चाहिए। चातुर्मास्य-व्रत और ऊर्ज-व्रतमें सूर्योदय-विद्धाका त्याग ही श्रीहरिभक्तिविलासका अभिमत है।

हम लोग श्रील ठाकुर भक्तिविनोदका कार्त्तिक-व्रतके सम्बन्धमें एक छोटा-सा प्रबन्ध उद्धृत कर रहे हैं। इस प्रबन्धमें व्रत-समाप्तिकी क्रियाएँ किस दिन करनी होंगी, वह स्पष्ट रूपसे निर्द्धारित है। एकादशी तिथिसे जो व्रत आरम्भ करेंगे, उनके लिए जो विधि है, द्वादशी और पूर्णिमाके दिन भी उसी प्रकारसे विधि समझनी चाहिए। प्रबन्ध, यथा—

कार्त्तिकव्रत-पालन वैष्णवके लिए एक प्रधान कर्त्तव्य है।

आश्विनस्य तु मासस्य या शुक्लैकादशी भवेत्।
कार्त्तिकस्य व्रतानिह तस्यां कुर्यादतन्द्रितः॥
(श्रीहरिभक्तिविलास १६/१६८)

इस वचनके अनुसार प्रति वर्ष विजया दशमीके दूसरे दिन जो एकादशी होती है, उसी दिनसे व्रतको आरम्भ करना चाहिए और उत्थान एकादशीके दिन यह व्रत समाप्त होगा। इस एक महीनेके भीतर जो व्रत पालन किया जाता है उसका नाम 'नियम-सेवा' है। नियम-सेवाकी विधि यह है कि माहके प्रतिदिन रात्रिके शेषमें पवित्र होकर श्रीकृष्णकी मङ्गलारति करनी चाहिए। प्रातः स्नानकर श्रीदामोदरका अर्चन करना चाहिए। रात्रिमें घृत-दीप या तिल-तैलका प्रदीप भगवान्के मन्दिरमें जलाना चाहिए। तुलसीके नीचे और आकाशमें भी प्रदीप दें। कार्त्तिक महीनेमें निरामिष प्रसाद भगवान्को भोग लगाना चाहिए तथा उसीको ग्रहण करना चाहिए। बासी अन्न, दूसरेकी शैय्या, तैल, मधु, काँसेके बर्तनका व्यवहार परित्याग करना चाहिए। प्रसाद सेवाके अन्तमें वैष्णवोंके सङ्गमें श्रीमद्भागवतादि श्रवण और पठन-पाठन करना चाहिए। निरन्तर हरिनाम-कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार विधि अवलम्बनपूर्वक उक्त व्रत पालनकर उत्थान एकादशीके दिन निरम्बु अर्थात् बिना पानीके उपवास और कृष्णकथाके माध्यमसे रात्रि-जागरण करना चाहिए। दूसरे दिन प्रातःकाल शुद्ध होकर हरिकीर्त्तनके अन्तमें वैष्णवोंको प्रसाद सेवा कराकर अन्तमें स्वयं प्रसाद सेवा करें। इसी दिन रात्रिके अन्तमें व्रत समाप्त करेंगे।

ऊर्ज-व्रतके द्वारा श्रीराधादामोदरका प्रीति विधान करना ही प्रधान उद्देश्य है। श्रीराधारानीको ऊर्जेश्वरी कहा जाता है। इसलिए श्रीदामोदरकी प्रीतिके लिए सत्यव्रतमुनिने "नमो राधिकायै त्वदीयप्रियायै" इस वाक्यको संयोजितकर श्रीराधादामोदरकी पूजा करना ही श्रीदामोदर-व्रतका एकमात्र कर्त्तव्य बतलाया है।

हम लोग गौड़ीय वैष्णवोंके पालनीय ६४ प्रकारके भक्त्यङ्गोंमें ऊर्जादरका उल्लेख देखते है। ऊर्जादर कहनेसे चातुर्मास्य-व्रतको ही

सम्पूर्ण रूपसे समझना चाहिए। कोई कहते हैं कि ६४ प्रकारके भक्त्यङ्गोंमें चातुर्मास्यका उल्लेख नहीं रहनेसे हम लोग ऊर्ज-व्रतका ही पालन करेंगे। चार महीनेका व्रत उद्यापन करनेका क्लेश स्वीकार नहीं करेंगे। ऐसे भजनप्रयासी व्यक्ति शास्त्रोंके निगूढ़ तात्पर्यसे अवगत न होनेके कारण उच्छृङ्खलताका परिचय दिया करते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुने स्वयं श्रीरङ्गक्षेत्रमें उपस्थित होकर चातुर्मास्य-व्रतका उद्यापन स्वयं आचरण करके शिक्षा दी है। जो लोग श्रीचैतन्य महाप्रभुके आचरित और प्रचारित शिक्षाका अनुसरण करनेमें असमर्थ हैं, हम लोग उन्हें शुद्ध वैष्णवोंकी श्रेणीमें नहीं ले सकते। यहाँ हम लोग यह कहना चाहते हैं कि षडङ्ग शरणागतिमें नवधाभक्तिके अन्तर्गत केवल 'आत्म-निवेदन' का उल्लेख देखा जाता है। तो क्या हम लोग इससे यह समझेंगे कि शरणागतिके अन्य पञ्चाङ्ग निषिद्ध हैं? छह प्रकारकी शरणागतिकी चरम शरणागति 'आत्मनिवेदन' का उल्लेख करनेसे ही यह समझना होगा कि अन्यान्य शरणागतिके अङ्ग भी साधारणके लिए निर्दिष्ट हुए हैं। यह अङ्गाङ्गीभावसे एक ही साधनके रूपमें गृहीत होते हैं।

श्रीदामोदराष्टकके नित्य होनेके कारण कार्त्तिक महीने या दामोदर महीनेके अतिरिक्त चातुर्मास्यमें भी प्रतिदिन इसका पठन-पाठन आवश्यक है। यहाँ तक कि अन्यान्य महीनोंमें भी प्रतिदिन यह पठनीय है। दामोदराष्टकका विशुद्ध भावसे कीर्त्तन करनेसे स्वयं श्रीदामोदरदेव प्रसन्न होंगे। इसी उद्देश्यसे हम लोगोंने विशेष प्रयत्नके साथ इसका सङ्कलन किया है।

इस ग्रन्थके सङ्कलनके विषयमें हम लोग माननीय पण्डित श्रीयुत नवीनचन्द्र 'स्मृति-व्याकरणतीर्थ' महोदयके निकट विशेष कृतज्ञ हैं। उन्होंने 'दिग्दर्शिनी'-टीकाका बङ्गानुवाद और अन्वयादि कार्योंमें विशेष सहायता की है। यहाँ तक कि दिग्दर्शिनी-टीकाके कुछ स्थल इस प्रकार दुर्बोध्य प्रतीत हो रहे थे कि इनका पाठ उद्धार करना सम्भवपर नहीं था। इसलिए उन्होंने बहुत क्लेश स्वीकारकर नवद्वीप और अन्यान्य बहुस्थानोंमें पण्डित-मण्डलियोंके साथ परामर्श करके

सुसङ्गत पाठका उद्धार किया है। इसलिए हमलोग उनके विशेष कृतज्ञ हैं। उक्त टीका हरिभक्तिविलासके षोडश अध्यायके कतिपय संस्करणोंमें ही मुद्रित हुई है। हम लोगोंने उन्हें मिलाकर मूलश्लोक और टीकाको मुद्रित किया है।

इस ग्रन्थको निर्भूल छापनेके लिए प्रचुर यत्न करनेपर भी दो-एक स्थानोंपर अत्यन्त सामान्य भ्रान्तियाँ रह गई हैं। वे सहज ही बोधगम्य हैं, इसलिए उसके लिए पृथक् शुद्धिपत्र नहीं दिया गया।

श्रीगोस्वामिपादने इस ग्रन्थकी टीकामें उनके रचित बृहद्भागवतामृतके विचारका उल्लेख किया है। हम लोगोंने उस विचारको पादटीकामें जोड़ दिया है। उसमें बृहद्भागवतामृतके मूल श्लोक और उनका तात्पर्यानुवाद भी पाठकोंको सुगमतापूर्वक समझनेके लिए प्रकाशित किया है।

अन्तमें शुद्धवैष्णवोंसे कातर प्रार्थना है कि चातुर्मास्य-व्रत या ऊर्ज-व्रतमें इस ग्रन्थका पठन-पाठनकर उनके प्रसन्न होनेसे हम लोगोंका परिश्रम सफल होगा। यह ग्रन्थ बड़ी सुगमतासे सभी संग्रह कर सकें, इसलिए इसकी भिक्षा भी बहुत साधारण रखी गई है। इति—

श्रीभक्तिप्रज्ञान केशव

प्रस्तावना

श्रीगौड़ीय वैष्णवगण कार्त्तिक माहमें श्रीदामोदर-व्रत, ऊर्ज-व्रत, नियमसेवाके उपलक्ष्यमें मिलकर प्रतिदिन प्रातःकाल, तृतीय प्रहर और रात्रिके प्रथम प्रहरमें श्रीदामोदराष्टकका उच्च स्वरसे गान करते हैं एवं उसका पठन-पाठन करते हैं। परमाराध्य ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी गुरुपादपद्मने वर्षों पूर्व बङ्गभाषामें इसका सङ्कलनकर मूलश्लोक, अन्वय, मूलश्लोकका बङ्गानुवाद और श्रील सनातन गोस्वामी द्वारा रचित दिग्दर्शिनी नामक टीकाके साथ इसको प्रकाशित किया था। उन्हींकी प्रेरणा और अहैतुकी कृपासे आज वह ग्रन्थ राष्ट्रभाषा हिन्दीमें भी प्रकाशित हो रहा है, अतः बड़ी प्रसन्नताका विषय है कि अब हिन्दी भाषा-भाषी वैष्णवजन भी इस ग्रन्थका आस्वादन कर सकेंगे।

बहुत वर्षोंसे कार्त्तिक माहमें मैं प्रतिदिन प्रातःकाल और सन्ध्याके समय इस ग्रन्थका पाठ तथा इसकी व्याख्या करता आ रहा हूँ। विदुषी बेटी सविताने बड़े परिश्रमसे मेरी व्याख्याको प्रवचनके समय लिख रखा था। उसने मुझे यह प्रकाशित करनेके लिए दिया था। बहुत समयसे उसे प्रकाशित करनेकी इच्छा होनेपर भी अवकाश न मिलनेपर कुछ विलम्ब हो गया। किन्तु मैंने उसका संशोधन और सम्वर्धन किया है।

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें श्रीमान् त्रिदण्डिस्वामी भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीपाद ओमप्रकाश व्रजवासी एम. ए., एल. एल. बी. 'साहित्यरत्न', कुमारी सविता एम. ए., बेटी शान्ति दासी, श्रीमान् जीवप्रिय ब्रह्मचारी, श्रीमान् गिरिधारी ब्रह्मचारी, श्रीमान् अच्युतानन्द ब्रह्मचारी आदिकी कम्प्यूटर द्वारा मुद्रण, प्रूफ-संशोधन आदिमें सेवा-प्रचेष्टा अत्यन्त सराहनीय और विशेष उल्लेख योग्य रही है। मुखपृष्ठका चित्र श्रीमती श्यामरानी दासीने प्रस्तुत किया है। बेटी सविताकी बड़ी बहन मधु गुप्ता तथा उसके पति रमेश प्रसाद

(भद्रकवाले) ने इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आंशिक अर्थकी सेवा की है। श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग–गान्धर्विका–गिरिधारी इनपर प्रचुर कृपाशीर्वाद वर्षण करें—उनके श्रीचरणोंमें यही प्रार्थना है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्ति–पिपासु, रसिक और भावुक तथा व्रजरसके प्रति लुब्ध श्रद्धालुजन इस ग्रन्थका पाठकर आनन्दित होंगे।

शीघ्रतावश प्रकाशन हेतु इस ग्रन्थमें कुछ त्रुटियोंका रह जाना स्वाभाविक है। श्रद्धालु पाठक उसे संशोधनकर पाठ करेंगे और हमें सूचित करेंगे, ताकि अगले संस्करणमें हम उन त्रुटियोंका संशोधन कर सकें।

इन्दिरा एकादशी,
सोमवार,
१८ सितम्बर, २००६ ई.
५२० चैतन्याब्द

श्रीहरि–गुरु–वैष्णव–कृपालेश–प्रार्थी
दीन–हीन
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

सूचीपत्र

श्लोकका प्रथम चरण	*पत्राङ्क*
(१) नमामीश्वरं सच्चिदानन्दरूपं	१–२०
(२) रुदन्तं मुहुर्नेत्र-युग्मं मृजन्तं	२१–३६
(३) इतीदृक् स्वलीलाभिरानन्द-कुण्डे	३७–५२
(४) वरं देव! मोक्षं न मोक्षावधिं वा	५३–६८
(५) इदन्ते मुखाम्भोजमव्यक्त-नीलै	६९–७८
(६) नमो देव! दामोदरानन्त! विष्णो!	७९–९२
(७) कुबेरात्मजौ बद्ध-मूर्त्यैव यद्वत्	९३–१००
(८) नमस्तेऽस्तु दाम्ने स्फुरद्दीप्तिधाम्ने	१०१–११०

॥श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः॥

श्रीदामोदराष्टकम्

श्रीश्रीराधादामोदरौ विजयतेतमाम्

प्रथमः श्लोकः

नमामीश्वरं सच्चिदानन्दरूपं,
लसत्कुण्डलं गोकुले भ्राजमानम्।
यशोदाभियोलूखलाद्धावमानं,
परामृष्टमत्यं ततोद्रुत्य गोप्या॥१॥

अन्वय—लसत्कुण्डलं (जिनके कपोलोंपर दोदुल्यमान मकराकृत कुण्डल क्रीड़ा कर रहे हैं); गोकुले (गोप, गोपी, गो, गोवत्स आदिके निवास स्थल गोकुल नामक अप्राकृत चिन्मय धाममें); भ्राजमानं (शोभायमान); यशोदा-भियोलूखलाद्धावमानं (दधिकी मटकीको फोड़ देनेके अपराधके कारण मैया यशोदाके भयसे डरकर ओखलके ऊपरसे कूदकर अत्यन्त वेगसे दौड़ते हुए); अत्यन्ततोद्रुत्य (अत्यन्त वेगसे दोड़कर); गोप्या (माँ यशोदाने); परा आमृष्टं (जिनको पीछेसे पकड़ लिया); सच्चिदानन्दरूपं (उन सर्वावतारी, सच्चिदानन्दघन विग्रह-स्वरूप श्रीकृष्ण); ईश्वरं (सर्वशक्तिमानको); नमामि (मैं नमस्कार करता हूँ)॥१॥

श्लोकानुवाद—जिनके कपोलोंपर दोदुल्यमान मकराकृत कुण्डल क्रीड़ा कर रहे हैं, जो गोकुल नामक अप्राकृत चिन्मय धाममें परम शोभायमान हैं, जो दधिभाण्ड फोड़नेके कारण माँ यशोदाके भयसे

भीत होकर ओखलसे कूदकर अत्यन्त वेगसे दौड़ रहे हैं और जिन्हें माँ यशोदाने उनसे भी अधिक वेगपूर्वक दौड़कर पकड़ लिया है, ऐसे उन सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ॥१॥

'दिग्दर्शिनी'—टीका

श्रीराधा-सहितं नत्वा श्रीदामोदरमीश्वरम्।
'दामोदराष्टक'-व्याख्या दिगेषा दर्श्यतेऽधुना॥

तत्राग्रे किमपि प्रार्थयितुमादौ तस्य 'तत्त्व'-'रूप'-'लीला'-'गुणादि'-विशेषेणोत्कर्ष-विशेषं, 'गोकुल-प्रकटित-निज-भगवत्तासार-'सर्वस्वभूतं' वर्णयन् भक्त्यादौ नमस्करोति—नमामीति। तच्च मङ्गलार्थं सर्वकर्मसु प्रागेव दास्य-विशेषेण विधानादादौ निर्दिष्टम्। कम्? ईश्वरं—सर्वशक्तिमन्तं, जगदेकनाथं, निजप्रभुं वा। तत्राद्यपक्षः—स्तुत्यादिशक्त्यर्थः, द्वितीयः—परमवन्द्यतार्थः, अन्त्यश्च—भक्तिविशेषेणेति दिक्। कथम्भूतं? सच्चिदानन्दरूपं सच्चिदानन्दघन-विग्रहमित्यर्थः—इति 'तत्त्व'-विशेषेणोत्कर्षविशेष उक्तः।

[रूप]-सौन्दर्य-विशेषेणोत्कर्षविशेषमाह—लसन्ती श्रीयशोदाभिया धावमानात्, सतत-बाल्यक्रीड़ाविशेषपरत्वाद्वा निरन्तरं लोलतया गण्डयोः क्रीडन्ती कुण्डले यस्य तम्—इति 'श्रीमुखशोभा'-विशेष उक्तः; यद्वा, श्रीगण्डचुम्बन-महासौभाग्यतः कुण्डलयोः सर्वभूषणेषु मुख्यत्वात्ताभ्यां तानि सर्वाण्येवोपलक्ष्यन्ते; ततश्च लसन्ती शोभमाने कुण्डले यस्मात् तं भूषण-भूषणाङ्गमित्यर्थः। अतएवोक्तं श्रीगोपीभिर्दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/२९/४०)—"त्रैलोक्य-सौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं, यद्गो-द्विज- द्रुम-मृगाः पुलकान्यविभ्रन्॥" इति, उद्धवेन च तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा. ३/२/१२)—"विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः, परं पदं भूषण-भूषणाङ्गम्॥" इति।

'परिवार'-विशेषेणोत्कर्षविशेषमाह—गोकुले गोप-गोपी-गोवत्सादि-निवासे, भ्राजमानं योग्यस्थानविशेषे पूर्वतोऽप्युत्कर्षविशेष-प्रकटनेन गोकुलस्य स्वाभाविक-शोभाविशेषेण वा शोभमानम्; तच्च श्रीदशमस्कन्धादौ (श्रीमद्भा. १०/३२/१४)—"चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्य-लक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत्॥" इत्यादिनोक्तम्।

'लीला'-विशेषेणोत्कर्षविशेषमाह—यशोदेति सार्द्धेन। यशोदाया मातुः सकाशात्, भिया दधिभाण्ड-भेदनाद्यपराधकृत-भीत्या, उदूखलात् शिक्यस्थित-नवनीत-चौर्यार्थमुद्वर्त्त्य

तले समारूढ़ादुदूखलतः धावमानं त्वरयापसरन्तम्। अत्र च विशेषापेक्षकैर्दशम-स्कन्धनवमाध्यायोक्तम् (श्रीमद्भा. १०/९/८-९)—"उदूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं, मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम्। हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं, निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनैः॥ तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वरस्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत्। गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां, क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥" इत्याद्यनुसन्धेयम्।

ततश्च अत्यन्ततततोद्द्रुत्य वेगेन धावित्वा; समासैकपद्येन यबादेशः, गोप्या श्रीयशोदया, परा आमृष्टं पृष्ठतो धृतम्; अत्र च अत्यन्ततोद्द्रुत्येत्यनेन श्रीयशोदाया अपि स्तन-नितम्ब-गौरवादि-सौन्दर्यविशेषः स्नेहविशेषश्च सूचितः। गोप्येति प्रेमोक्तिपरिपाट्या गोपजातीनामेव तादृशं महासौभाग्यमिति ध्वनितम्। परामृष्टमित्यनेन तस्यां भगवतः स्नेहविशेषो ध्वनित इति दिक्। अत्र च (श्रीमद्भा. १०/९/१०)—"अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्त-गतिः सुमध्यमा। जवेन विस्रंसित-केशबन्धन-च्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत्॥" इत्यर्थोऽनुसन्धेयः॥१॥

इति श्रीदामोदराष्टके प्रथमश्लोके श्रीलसनातन गोस्वामिकृता
दिग्दर्शिनी-नाम्नी टीका समाप्ता।

दिग्दर्शिनी-टीकाका भावानुवाद—

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
नमः ॐ विष्णुपादाय आचार्य-सिंहरूपिणे।
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान-केशव इति नामिने॥
अतिमर्त्य-चरित्राय स्वाश्रितानाञ्च-पालिने।
जीवदुःखे सदार्त्ताय श्रीनाम-प्रेम दायिने॥
गौराश्रय-विग्रहाय कृष्णकामैक-चारिणे।
रूपानुग-प्रवराय विनोदेति-स्वरूपिणे॥
प्रभुपादान्तरङ्गाय सर्वसद्गुणशालिने।
मायावाद-तमोघ्नाय वेदान्तार्थविदे नमः॥
वैराग्ययुग् भक्तिरसं प्रयत्नैरपाययन्मामनभीप्सुमन्धम्।
कृपाम्बुधिर्यः परदुःखदुःखी सनातनं तं प्रभुमाश्रयामि॥

नमो महावदान्याय कृष्ण-प्रेम-प्रदाय ते।
कृष्णाय 'कृष्णचैतन्य'-नाम्ने गौरत्विषे नमः॥

निरुपाधिक करुणावारिधि श्रीगुरुपादपद्म अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज, श्रीगुरुपरम्पराके आचार्यों, विशेषतः परदुःख-दुःखी जगद्गुरु श्रील सनातन गोस्वामिपाद और महावदान्य राधाभावद्युति-सुवलित शचीनन्दन श्रीगौरहरिके चरणकमलोंमें पुनः-पुनः प्रणतिपूर्वक उनकी कृपा प्रार्थनाकर श्रीदामोदराष्टककी श्रीश्रील सनातन गोस्वामी कृत दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद आरम्भ कर रहा हूँ।

श्रीराधाजीके साथ भगवान् श्रीदामोदरको प्रणामकर दिग्दर्शिनी नामकी श्रीदामोदराष्टककी यह व्याख्याकी जा रही है।

सभी कार्योंसे पहले दास्यविशेषके द्वारा मङ्गलाचरण करना चाहिए इसलिए स्तुतिके प्रारम्भमें ही सत्यव्रत मुनि "नमामि" पदके द्वारा मङ्गलकी प्रार्थना कर रहे हैं। आगे कुछ भी प्रार्थना करनेके पहले प्रार्थ्य वस्तुके तत्त्व, रूप, लीला, गुणादिके विशेष द्वारा उत्कर्षविशेष—"गोकुलमें प्रकटित अपनी भगवत्ताके सार-सर्वस्व" का वर्णन करते हुए मुनि भक्तिपूर्वक उन्हें (प्रार्थ्य श्रीकृष्णको) नमस्कार कर रहे हैं। किन्हें नमस्कार कर रहा हूँ? 'ईश्वर' को नमस्कार कर रहा हूँ। यहाँ 'ईश्वर' शब्दके तीन अर्थ हैं—सर्वशक्तिमान्, जगदेकनाथ अथवा निजप्रभु। "मैं सर्वशक्तिमान् ईश्वरको नमस्कार कर रहा हूँ"—इस अर्थमें स्तुति आदि करनेके लिए शक्तिकी प्रार्थना निहित है। "मैं जगत्के एकमात्र नाथको नमस्कार कर रहा हूँ"—इस अर्थमें वस्तुका परम वन्दनीय होना सूचित होता है। "मैं अपने प्रभुको नमस्कार कर रहा हूँ"—इस अर्थमें भक्तिविशेष सूचित होती है। वह 'ईश्वर' किस प्रकारका है? "सच्चिदानन्दरूपं"—"वह सच्चिदानन्दघनविग्रह है।"—यहाँ तत्त्वविशेषके द्वारा पार्थ्य वस्तुका उत्कर्षविशेष उक्त हुआ। पुनः सौन्दर्यविशेष (रूप) के द्वारा प्रार्थ्य वस्तुका उत्कर्षविशेष बता रहे हैं—"लसत्कुण्डलं" यशोदाजीके भयसे भाग रहे होनेके कारण अथवा सतत ही बाल्यक्रीड़ाविशेषके परायण होनेके कारण मानो जिनके दोनों गालोंपर दो कुण्डल निरन्तर दोलन करनेके कारण क्रीड़ा करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं, मैं उन ईश्वरको नमस्कार कर रहा हूँ। इस प्रकार यहाँ प्रार्थ्य वस्तुका मुखशोभाविशेष उक्त हुआ। यहाँ "लसत्कुण्डलं" का दूसरा अर्थ भी सम्भव है। दोनों कुण्डलोंको श्रीकृष्णके कपोलोंको चूमनेका महासौभाग्य प्राप्त है अतः सभी प्रकारके भूषणोंमें कुण्डल ही मुख्य है, इसलिए यहाँ 'कुण्डल' कहनेसे सभी भूषण उपलक्षित हो रहे हैं। अब "लसन्ती शोभमाने कुण्डले यस्मात् तं"—अर्थात् "जिनसे ये कुण्डल शोभायमान हो रहे हैं, मैं उनको नमस्कार कर रहा हूँ"—इस प्रकारका विग्रह करनेसे यह अर्थ प्राप्त होता है कि प्रार्थ्य वस्तु 'भूषणभूषणाङ्ग' अर्थात् भूषणके भी भूषणस्वरूप हैं। इसीलिए दशमस्कन्धमें गोपियोंने कहा है—"त्रैलोक्य सौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं, यद्गो द्विज द्रुम मृगाः पुलकान्यविभ्रन्।" अर्थात् त्रिलोकीके सौभाग्यस्वरूप तुम्हारे इस रूपको निहारकर गाय, पक्षी, पेड़, मृगादि भी पुलकित हो जाते हैं।

उद्धवजीने भी तृतीयस्कन्ध (३/२/१२) में कहा है—"विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्।" अर्थात् श्रीकृष्णका रूप उनको भी विस्मित कर देनेवाला था, वह सौभाग्यरूपी सम्पत्तिका परम आश्रय था और उनके अङ्ग भूषणोंके भी भूषणस्वरूप थे।

पुनः परिवारविशेषके द्वारा प्रार्थ्य वस्तुका उत्कर्षविशेष कह रहे हैं—"गोकुले भ्राजमानं" अर्थात् मैं गोप-गोपी-गोवत्सादिके निवास गोकुलमें योग्यस्थान विशेषमें पहलेकी अपेक्षा उत्कर्ष विशेष प्रकट करनेके कारण अथवा गोकुलकी स्वाभाविक शोभाविशेषके कारण शोभमान ईश्वरको नमस्कार कर रहा हूँ, दशमस्कन्धमें भी इस प्रकारका वर्णन प्राप्त होता है—"चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्-त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत्।" अर्थात् त्रिलोकीकी शोभासम्पत्तिके एकमात्र आश्रयस्वरूप अपने शरीरको प्रकटित करते हुए श्रीकृष्ण गोपियोंकी सभामें उनके द्वारा पूजित होकर शोभित हुए।

पुनः लीलाविशेषके द्वारा प्रार्थ्य वस्तुका उत्कर्षविशेष डेढ़ श्लोकोंमें कह रहे हैं—"यशोदाभियोलूखलाद्धावमानं परामृष्टं" अर्थात् दहीकी मटकी फोड़ देना आदि अपराधके कारण माता यशोदासे डरकर, छींकेपर रखे माखनकी चोरी करनेके लिए पलटकर रखे हुए

ऊखलपरसे शीघ्रतापूर्वक भाग रहे ईश्वरको नमस्कारकर रहा हूँ। इस विषयमें अधिक जाननेकी अपेक्षा रखनेवाले दशमस्कन्धके नवें अध्यायके आठवें तथा नवें श्लोकोंका अनुशीलन करें। यथा—

उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं
मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम्।
हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं
निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागच्छनैः॥

तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वर-
स्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत्।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां
क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥

अर्थात् "श्रीकृष्ण तब उलटी हुई ओखलीके ऊपर चढ़कर छींकेपर रखे हुए माखनको लेकर बन्दरोंको मनमाने ढंगसे खिला रहे थे। चोरीके कारण जिनके युगल नेत्र शङ्कासे ग्रस्त थे। श्रीयशोदाजी अपने लालाको उस अवस्थामें देखकर धीरे-धीरे उनके पीछे आईं। श्रीकृष्ण मैया यशोदाके हाथोंमें छड़ी देखकर झट ओखलसे कूदकर भयार्त्त मनुष्यकी भाँति भागने लगे। योगिजन तपोबलसे विशुद्ध हुए चित्तसे ब्रह्मलीन होनेके योग्य होनेपर भी उनको नहीं पा सकते हैं, ऐसे श्रीकृष्णको पकड़नेके लिए मैया उनके पीछे दौड़ीं।" अनन्तर, अत्यधिक वेगसे दौड़कर गोपी यशोदाने जिनको पीछेसे पकड़ लिया है, उन ईश्वरको मैं नमस्कार कर रहा हूँ। समासके कारण एक पद्य होनेसे यहाँ 'द्रु' धातुसे 'क्त्वा' के स्थानमें 'यप्' आदेश हुआ है। "अत्यन्ततोद्रुत्य" पदके द्वारा श्रीयशोदाके भी स्तन-नितम्बकी स्थूलता आदि सौन्दर्यविशेष और स्नेहविशेष सूचित हो रहे हैं। 'यशोदया' न कहकर 'गोप्या'—इस प्रेमोक्तिपरिपाटी द्वारा गोपजातिका ही वैसा महासौभाग्य ध्वनित हो रहा है। "परामृष्टं" पदके द्वारा भगवान्का भी मैया यशोदामें स्नेहविशेष ध्वनित हो रहा है। यहाँ भी भागवत (१०/९/१०) के श्लोकका अर्थ अनुसन्धेय है। यथा—

अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चल-
　　च्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा।
जवेन विस्रंसितकेशबन्धन-
　　च्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत्॥

अर्थात् क्षीण कटिवाली यशोदा श्रीकृष्णका पीछा कर रही हैं, विशाल और चञ्चल नितम्बके भारके कारण उनकी गति मन्थर हो गयी, शीघ्र गमनके कारण उनकी चोटीमें गुँथे फूल गिरकर उनका अनुगमन कर रहे हैं। ऐसी माँ यशोदाने कृष्णको पीछेसे पकड़ लिया।

इति श्रीदामोदराष्टकके प्रथम श्लोककी श्रीलसनातन गोस्वामिकृत दिग्दर्शिनी-टीकाका भावानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी-वृत्ति—श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके नवम अध्यायमें श्रीदामोदरलीलाका वर्णन किया गया है। वह लीला इस प्रकार है—श्रीयशोदाजी अनेक बार बहुत-सी गोपियोंके उलाहने सुन रहीं थीं कि तुम्हारा लाला हमारे घरमें चोरी करता है, माखन खा जाता है; परन्तु यशोदे! दूध, दही और माखनको फैलाता अधिक है। यदि वह स्वयं खाए तो अच्छी बात है, परन्तु वह खाता भी नहीं। हमारी दूध, दहीकी मटुकियाँ फोड़ देता है, बछड़ोंको खोल देता है। हम नित्यप्रति दूध, दहीकी हानि कैसे सहन करें? अब हमसे सहन नहीं होता। हम सबने सोच लिया है कि हम आपके व्रजको छोड़कर अन्यत्र कहीं वास करेंगी।

प्रतिदिनके उलाहने सुनकर मैया मनमें विचार करने लगी कि क्या वास्तवमें लालाको अपने घरका माखन रुचिकर नहीं लगता? क्या खट्टा होता है? इसलिए अपने घरका मक्खन न खाकर अन्य गोपियोंके घरमें घुसकर माखनकी चोरी करता है? अतः आज स्वयं मैं अपने हाथोंसे अपने लालाके लिए माखन निकालूँगी। मेरे हाथोंसे निकला मीठा माखन अवश्य खाएगा। फिर वह दूसरोंके घरोंमें चोरी करने नहीं जाएगा।

दीपावलीका त्यौहार था, मैयाने घरके सभी सेवक-सेविकाओंको अवकाश दे दिया। मङ्गला, गङ्गा, पिशङ्गी आदि पद्मगन्धा गायोंका दुग्ध स्वयं दुहकर औटाया। फिर दूधको दही बनानेके लिए शीतोष्ण दूधमें दहीका जामुन देकर जमाया। भोरमें दहीको स्वयं मथने बैठी। दही मन्थनके समय अपने लालाके प्रेममें तन्मय होकर गान करने लगी। मथनीका घर्घर शब्द मृदङ्गके पिछले भागका कार्य कर रहा है तथा अगले भागसे तान शब्द निकल रहा है जिससे पूर्ण शब्द 'धिक्-तान्' निकलता है, जिसका अर्थ या भाव है—जो जीव श्रीराधाकृष्णका भजन एवं स्मरण नहीं करता, उनका जीवन पशुके समान है तथा उसे धिक्कार है। मैयाकी चूड़ियोंकी झंकार करतालका कार्य कर रही है। मैया भावमें विभोर होकर गा रही हैं—

उलूखले सम्भृततण्डुलांश्च संघट्टयन्तो मुसलैः प्रमुग्धाः।
गायन्ति गोप्यो जनितानुरागा गोविन्द दामोदर माधवेति॥
(श्रीगोविन्ददामोदर स्तोत्रम् ४)

इधर मैया तो अपने गान-रसमें प्रमत्त हैं, उधर वात्सल्यप्रेमके भिखारी मैयाके लाल कन्हैया माँके प्रेमभरे सङ्गीतको श्रवणकर अपनेको नियन्त्रित नहीं कर सके। सोचने लगे कि माँ प्रतिदिन मुझे लोरियाँ गाकर बड़े लाड़से जगाती है; किन्तु आज मुझे जगाने नहीं आई। मुझे बड़ी भूख लगी है। आत्माराम और आप्तकाम सर्वेश्वर प्रभुको भूख लग गई। वे मैयाका दूधपान करनेके लिए जोर-जोरसे रोने लगे। धन्य हैं, प्रभो! किन्तु आज श्रीश्यामसुन्दरका रोना मैयाके अगाध वात्सल्य-समुद्रमें न जाने कहाँ समा गया, मैया उसका रोना सुन न सकी। वे संकीर्त्तनमें अत्यन्त संलग्न थीं। अन्तमें कन्हैया बड़ी कठिनाईसे पेटके सहारे अपनी शय्यासे उतरे। आँखोंको मलते हुए रोते-रोते मतवाले हस्तिके समान लड़खड़ाते हुए किसी प्रकारसे अपनी मैयाके पास पहुँचे और चलती हुई मथानीका दण्ड पकड़ लिया। दण्डके रुकनेसे मैयाका ध्यान भङ्ग हुआ, अपने निकट लालाको देखकर झट अपनी गोदीमें बैठा लिया और उसे स्तनपान कराने लगी। अपने लाल कन्हैयाको देखते ही मैयाके अङ्गोंमें

अष्टसात्त्विक विकार उत्पन्न होने लगे और वात्सल्यरसका विशेष भाव अर्थात् स्तनोंसे दूध भी झरने लगा। यहाँ भक्तिरसामृतसिन्धुके अनुसार वात्सल्यरसके विषयालम्बन बालकृष्ण हैं, आश्रय आलम्बन माँ यशोदजी हैं; उद्दीपन बालकृष्णका सुन्दर मुखमण्डल है और मैयाका अश्रुपात, रोमाञ्च, स्तनोंसे दुग्ध-स्राव आदि अष्टसात्त्विक एवं व्यभिचारीभाव हैं। स्थायीभाव—मैयाकी वात्सल्यरतिमें उक्त विभाव, अनुभावादि साथ मिलकर मैयाको वात्सल्यरसका पान कराने लगे।

इधर चूल्हेपर दुग्ध उबल रहा था। मानो दुग्ध सोच रहा है कि मैयाके स्तनमें निखिल विश्व-ब्रह्माण्डका दूध भरा है। उनका दुग्ध कभी भी समाप्त नहीं होगा और लाला कन्हैयाका उदर भी कोई छोटा नहीं, उसमें अखिल ब्रह्माण्ड समा सकता है। अर्थात् मैया दूध पिलाते-पिलाते नहीं थकेगी और लाला भी निरन्तर दूध पीते ही रहेंगे। तो मुझे श्रीकृष्णकी सेवाका अवसर ही प्राप्त नहीं होगा, फिर निरर्थक सेवाहीन जीवन धारण करना व्यर्थ है। इस प्रकार विचार करके दुग्ध अग्निमें अपनी आत्माहुति देने लगा। साधकभक्तोंकी भी ऐसी उत्कण्ठा होनी चाहिए। यदि भजन करते समय भगवान्‌की स्फूर्त्ति, उनकी लीला व धामकी कृपाकी अनुभूति न हो तो हमारा जीवन व्यर्थ है। श्रीनरोत्तम दास ठाकुर श्रीगौरसुन्दर एवं उनके परिकरोंके दर्शनके अभावसे कह रहे हैं—

"पाषाणे कुटिब माथा, अनले पशिब।
गौराङ्ग गुणेर निधि कोथा गेल पाब॥"

(प्रार्थना ४१)

यहाँ प्रसङ्गवश यह विशेष रूपमें विचारणीय है कि श्रील रूप गोस्वामीने उत्तमाभक्तिकी परिभाषामें कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १/१/११)

भक्तिके दो लक्षण कहे गए हैं—स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षण। यहाँ स्वरूपलक्षणको बतला रहे हैं—भक्तिकी स्वरूपसिद्धिके लिए

आनुकूल्येन अर्थात् “श्रीकृष्णकी प्रीतिके अनुकूल हो”—इस विशेषणका प्रयोग किया गया है। क्योंकि प्रतिकूल अर्थात् विरुद्धाचरण द्वारा भक्तिकी सिद्धि ही नहीं होती। किन्हीं-किन्हीं महानुभावोंने ‘आनुकूल्य’ शब्दका अर्थ ‘रोचमाना प्रवृत्ति’ (रुचिकर) किया है। अर्थात् श्रीकृष्णका जो अनुशीलन (भक्ति) किया जा रहा है, वह अनुशीलन कृष्णको रुचिकर होना चाहिए। श्रीकृष्णके लिए ऐसी रोचमाना प्रवृत्तिका नाम आनुकूल्यविशिष्ट भक्ति है; किन्तु इस प्रकारका अर्थ ग्रहण करनेपर इसके लक्षणमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष होनेकी सम्भावना रहती है। जैसे, चाणूर-मुष्टिकादि असुरोंने मल्लयुद्धमें श्रीकृष्णके अङ्गोंपर प्रहार किया। उस प्रहारसे श्रीकृष्णको बड़ा ही उत्साह हुआ। वे चाणूर-मुष्टिकादिके साथ बड़े उत्साहसे वीररसका आस्वादन करने लगे। असुरोंका प्रहाररूप अनुशीलन श्रीकृष्णके लिए रुचिकर कैसे प्रतीत हो सकता है? इसके लिए श्रीमद्भागवत (१/१३/३०) का श्लोकांश उद्धृत किया गया है—“मनस्विनामिव सत्संप्रहार” इति अर्थात् साधारण लोगोंकी दृष्टिमें शत्रुके साथ भयानक युद्ध दुःखजनक होनेपर भी वीरोंके लिए रुचिकर ही होता है। अतएव मल्लयुद्धमें असुरोंका घोर प्रहार श्रीकृष्णको रुचिकर होनेके कारण, यदि असुरोंकी इस चेष्टाको भक्ति मान लिया जाए तो भक्तिके इस लक्षणमें ‘अतिव्याप्ति’ का दोष प्रवेश करता है अर्थात असुरोंका द्वेषभावपूर्ण जो प्रहाररूप अनुशीलन है, वह भक्तिका अत्यन्त विरोधी है, किन्तु कृष्णको रुचिकर होनेके कारण उसमें भक्तिका लक्षण व्याप्त होता दिखाई पड़ता है।

पुनः यशोदा मैया श्रीकृष्णको गोदीमें बैठाकर स्तनपान करा रही थीं, उधर चूल्हेपर दुग्ध उफनकर आगमें गिर रहा था। यशोदा मैया अतृप्त श्रीकृष्णको छोड़कर दुग्ध रक्षाके लिए चली गईं। श्रीकृष्णको यह रुचिकर नहीं हुआ, क्रोधसे उनके छोटे-छोटे होंठ काँपने लगे—“सञ्जातकोपः स्फुरितारुणाधरमिति” (श्रीमद्भा. १०/९/६)। यहाँ यशोदा माँकी यह चेष्टा श्रीकृष्णको अरुचिकर होनेके कारण भक्तिकी परिभाषामें व्याप्त नहीं दीखती। अतः यहाँ भक्तिके लक्षणमें ‘अव्याप्ति’ दोष जैसा प्रतीत होता है।

महाभागवत-जनोंका ऐसा स्वभाव होता है कि वे जीवमात्रको कृष्णसेवामें नियुक्त करना चाहते हैं। मैयाने जब देखा कि कृष्णसेवाके अभावमें दुग्ध अग्निमें जलकर अपनी आहुति दे रहा है, तब उन्होंने लालाको गोदसे उतारकर दुग्धको बचानेकी चेष्टा की। कन्हैयाने मैयाके स्तनको दोनों हाथोंसे जोर लगाकर पकड़ रखा है। पैरोंसे कमर पकड़ रखी है और अपनी समस्त शक्तिसे मैयाको पकड़े हैं। दस सहस्र हाथीका बल रखनेवाली पूतना अपनेको नहीं छुड़ा सकी। परन्तु वात्सल्यप्रेमके आगे उन सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्णकी शक्तिकी एक भी नहीं चली और एक ही हाथसे झिड़ककर गोदसे उतारकर पास ही बैठा दिया तथा दुग्धकी रक्षाके लिए चली गईं।

इसमें सिद्धान्त यह है कि श्रीकृष्णका मैयाके प्रति प्रेम और यशोदा मैयाका श्रीकृष्णके प्रति प्रेम, इनमें यशोदा मैयाका प्रेम बहुत ही अधिक है एवं श्रीकृष्ण इसी प्रेमके वशीभूत हैं। इसी ममतामय प्रेमके सम्मुख सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की समस्त ऐश्वर्य शक्ति पराजित हो जाती है। यहाँ एक और सिद्धान्त विचारणीय है—व्रजमें पूर्णतम रूपसे ऐश्वर्य प्रकाशित होनेपर भी वह व्रजलीलाके अतल माधुर्य-सागरमें डूबा रहता है अर्थात् व्रजका माधुर्य पूर्ण रूपसे प्रकाशित ऐश्वर्यको भी अपने अन्दर क्रोड़ीभूत कर लेता है। मैयाने दुग्धको ठण्डे पानीके छींटे देकर सान्त्वना दी कि तुम्हें अभी कृष्णकी सेवामें नियुक्त कर रही हूँ। तुम इस प्रकारसे प्राण मत त्यागो। इधर कन्हैया क्रोधसे तिलमिला उठे। पासमें रखे हुए लोढ़ेसे मटकेकी पैंदीमें मारकर छेद कर दिया। जिससे उसमें भरा हुआ दही निकलकर फैलने लगा। उस समय वे बड़े आश्चर्यसे मटकेसे तरल दधिके प्रवाहको देखने लगे। किन्तु उसे देखकर मैयाकी याद आई, इसलिए वे डरकर एक घरमें घुस गए, जिसका दरवाजा बाहरकी ओर भी था। घरके भीतर छींकेमें रखे माखनको देखकर मन ललच गया। पास ही उल्टे रखे हुए ओखलपर चढ़कर मटुकीसे माखन निकालकर खाने लगे तथा कौवों और बन्दरोंको भी खिलाने लगे।

उधर मैयाने वापस आकर देखा कि दधि भाण्ड फूट गया है, जिसमेंसे तरल दहीकी धार बह रही है। मैया समझ गई कि यह

करतूत मेरे सपूतकी ही है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर श्रीमद्भागवत (१०/९/७) के श्लोककी टीकामें कहते हैं कि मटकेके फोड़नेमें बड़ी चतुराई है अर्थात् न फोड़नेमें शब्द, न आभूषणोंका शब्द और न ही अन्य गृहमें ओखलीपर चढ़कर माखन लेनेमें शब्द। तो यह करतूत मेरे सपूतकी ही है। जमीनपर फैले हुए तरल दहीपर नन्हें-नन्हें पैरोंकी छाप, माखनकी सुगन्ध आदिसे मैयाने सहज ही अनुमान लगा लिया कि लाला इसी घरके भीतर गया है। उन्होंने झाँककर श्रीकृष्णको ओखलीपर चढ़कर नवनीत चुराते देखा। तब हाथमें छोटीसी छड़ी लेकर सपूतको दण्ड देनेके लिए बिल्लीकी भाँति दबे पाँवोंसे चली। किन्तु घरमें घुसते ही कौवों और बन्दरोंके भागनेसे श्रीकृष्ण समझ गए कि मैया आ रही है। वे झट ओखलीसे कूदकर राजमार्गकी ओर भागने लगे। मैयाने भी उस राजमार्गपर निकलकर पुत्रका पीछा किया।

मैयाके कुछ स्थूल श्यामल अङ्गोंपर रेशमी वस्त्र फहरा रहे हैं। केशमें सुन्दर-सुगन्धित पुष्प गुथे हैं। मैयाके द्रुतगतिसे दौड़नेपर वेणीसे पुष्प गिरने लगे, मानो पुष्प कह रहे हों, मैया तू अकेली नहीं है, हम भी तेरा साथ दे रहे हैं, झट पकड़ लो। कृष्णके दौड़नेकी गतिसे मैयाकी दौड़नेकी गति तीव्र है और उसी तीव्रगतिसे मैयाने कृष्णके पृष्ठ भागको पकड़ लिया।

यदि श्रीकृष्णको पाना हो तो श्रीकृष्णके प्रति हमारा जो प्रेम है, वह कृष्णके प्रेमसे अधिक होना चाहिए। तभी श्रीकृष्णको वशीभूत किया जा सकता है। प्रेम भी विश्रम्भ भावसे लौकिक सद्बन्धुवत् करना होगा जैसा कि व्रजवासी एवं उनकी स्त्रियोंका श्रीकृष्णके प्रति स्वाभाविक रूपमें प्रेम है। ऐश्वर्य मिश्रित प्रेमसे श्रीकृष्णको प्रसन्न तो किया जा सकता है, किन्तु वशीभूत नहीं। हाँ, यहाँ मैया श्रीकृष्णको लौकिक सद्बन्धुवत् पुत्र मानकर उनपर शासन कर रही हैं। अन्य सभी स्थानोंपर श्रीकृष्ण सेव्य हैं; किन्तु व्रजमें व्रजवासीजन सेव्य हैं तथा श्रीकृष्ण सेवक हैं। वे गोपियोंके कहनेपर नृत्य करते हैं। बाबा नन्दकी जूती सिरपर रखकर लाते हैं। योगमायाके द्वारा अपनी

भगवत्ताको भूलकर नरवत् लीला कर रहे हैं, इसको ही माधुर्यलीला कहते हैं। श्रीकृष्णकी व्रजलीलाएँ ऐश्वर्यसे परिपूर्णतम हैं, किन्तु व्रजवासियोंका प्रेम उनसे शिथिल नहीं होता, बल्कि उनके प्रेमका नवीनीकरणकर मधुरसे सुमधुर बना देता है। यही व्रजप्रेमका वैशिष्ट्य है। साधकको भी ऐसा साधन करना चाहिए, जिसे देखकर श्रीकृष्णका हृदय द्रवित हो जाए तथा वे अधिक प्रतीक्षा न कर सकें और भक्तको अपने हृदयसे लगाकर अपनी सेवामें निमज्जित कर दें।

"**नमामि**"—अपने स्तोत्रके आरम्भमें अपनी अभीष्ट पूर्तिके लिए सत्यव्रत मुनि अपने इष्टदेवकी स्तुति-मङ्गलाचरणके रूपमें कह रहे हैं—"नमामि"। मङ्गलाचरण तीन प्रकारका होता है—नमस्कार, वस्तुनिर्देश एवं आशीर्वादात्मक। मुनि सर्वप्रथम नमस्कार एवं वस्तुनिर्देश रूपमें मङ्गलाचरण कर रहे हैं। यहाँ 'नमामि' शब्द द्वारा श्रीकृष्णको नमस्कार कर रहे हैं।

"**ईश्वर**"—श्रीकृष्ण सभी ईश्वरोंके भी मूल ईश्वर हैं। इसका प्रमाण श्रील शुकदेव गोस्वामिपाद श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे॥
(श्रीमद्भा. १/३/२८)

पहले जिन अवतारोंका वर्णन किया गया है, उनमें कोई-कोई पुरुषावतार कारणार्णवशायी महाविष्णुके अंश हैं और कोई-कोई आवेशावतार हैं। ये सब अवतार असुरों द्वारा उत्पीड़ित जगतकी रक्षाके लिए प्रत्येक युगमें अवतरित होते हैं। किन्तु व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण स्वयंभगवान् हैं। अवतारोंके मूल, आद्य पुरुष हैं। महाविष्णु, श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके अंश हैं। हमारे सम्प्रदायके आदिगुरु श्रीब्रह्माजीने अपनी स्तुतिमें कहा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
(ब्रह्मसंहिता ५/१)

सत्, चित् और आनन्दमय विग्रह श्रीकृष्ण ही सर्वेश्वरेश्वर हैं, वे स्वयंरूप अनादि एवं सर्व-विष्णु और वैष्णवतत्त्वके आदि तथा सर्वकारणोंके कारण हैं।

"**सच्चिदानन्द**"—समस्त जगतके वन्दनीय समस्त ईश्वरोंके ईश्वर मूलावतारी श्रीकृष्ण व्रजमें नन्दबाबा, यशोदा मैया और अन्य गुरुजनोंकी वन्दना करते हैं। सखाओंके साथ खेलमें हार जानेपर भी परम आनन्दित होते हैं। उनका जूठा खाते हैं, अपना जूठा उनको खिलाते हैं। गोपियोंकी सभामें बारम्बार पराजित होनेपर भी अपना सौभाग्य समझते हैं। रासके समय व्रजसुन्दरियोंके साथ रमणकी इच्छा होनेके कारण उन्हें बुलाया, गोपियोंने श्रीकृष्णको नहीं बुलाया। वे श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द हैं। अर्थात् सत्, चित् और आनन्दसे युक्त।

सत् अर्थात् सत्ता—नवकिशोर नटवर श्रीकृष्णकी स्वाभाविक सत्ता है, ये परम मनोहर नवकिशोर रूप द्वारिकाधीशकी अपेक्षा अधिक सौन्दर्यशाली हैं। इन्हींकी सत्तासे सभी ईश्वरों और जगतकी सत्ता विद्यमान है। चित्का अर्थ है—ज्ञान, जिससे समस्त 'सम्बन्ध और भाव' प्रकाशित होते हैं। ज्ञानका सार है—भाव जो बढ़ते-बढ़ते प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा महाभावके रूपमें परिणत होता है। यही महाभावस्वरूपा स्वयं श्रीराधा हैं। जब सत्, चित् और आनन्द तीनों एकसाथ मिलित रूपमें प्रकाशित होते हैं तब वही सच्चिदानन्दकन्द श्रीराधाकान्त हैं। यही विशुद्धसत्त्व है। समस्त रसोंके विषय होते हुए भी श्रीकृष्ण आश्रय जातीय भावकी उच्चतम परिणति रूढ़, अधिरूढ़ आदि भावोंको समझ नहीं पाते हैं। इसलिए आश्रय जातीय श्रीराधाके भाव एवं उनकी अङ्गकान्ति द्वारा देदीप्यमान होकर श्रीकृष्ण शचीनन्दन श्रीगौरहरिका रूप धारणकर अपनी तीन वाञ्छाओंको पूर्ण करते हैं।

"**रूपम्**"—श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थलोंपर श्रीकृष्णकी रूप माधुरीका वर्णन किया गया है। किन्तु उनमें भी तीन विशेषस्थलोंपर अत्यन्त अद्भुत चमत्कारी एवं मार्मिक रूपमें वर्णन उपलब्ध होता है—

(१) लोकपितामह ब्रह्माजीके द्वारा—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंस-परिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥
(श्रीमद्भा. १०/१४/१)

"प्रभो! सारे विश्व ब्रह्माण्डमें एकमात्र आप ही स्तुति करने योग्य हैं। हे व्रजेन्द्रनन्दन! नवजलधर मेघके समान आपके इस वपु-पर विद्युतकी भाँति झिलमिलाता हुआ पीताम्बर अद्भुत शोभा पा रहा है। कानोंमें मकराकृत कुण्डल और सिरपर मयूर-पिच्छ धारण करनेसे आपके मुखकमलपर अनोखी छटा छा रही है। गलेमें तरह-तरहके पुष्पों और पत्तोंसे गुंथी हुई वनमाला, बगलमें बेंत और सींगा एवं कमरकी फेंटमें वेणु शोभा पा रहे हैं। आपके कमनीय कोमल हाथोंमें दही-भातका कवल है। आपका यह वेश आपको भी आकर्षित करनेवाला है। कमलसे भी अति सुकोमल, सुलक्षण चिह्नोंसे युक्त सुकुमार चरण, गोपाल बालकका यह मधुर वेष, मैं तो बस इन्हीं चरण कमलोंमें पुनः-पुनः दण्डवत्प्रणाम करता हूँ।"

(२) द्विज पत्नियोंके द्वारा—

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥
(श्रीमद्भा. १०/२३/२२)

"नवजलधरके समान साँवली उनकी अङ्गकान्ति है, उसपर स्वर्णकी आभाको पराभूत करनेवाला पीताम्बर झिलमिला रहा है, गलेमें वनमाला लटक रही है। मस्तकपर मयूरका पंख सुशोभित हो रहा है, अङ्ग-अङ्गमें रङ्गीन धातुओंसे चित्रकारी कर रखी है। नये-नये कोंपलोंके गुच्छोंको शरीरमें धारणकर नट-सा सुन्दर वेश बना रखा है। एक हाथ अपने सखाके कन्धेपर रखे हैं तथा दूसरे हाथसे लीलाकमलका फूल नचा रहे हैं। कानोंमें कुण्डल हैं, कपोलोंपर घुंघराली अलकें लहरा रही हैं और मुखकमल मन्द-मन्द मुस्कानसे प्रफुल्लित हो रहा है।"

(३) श्रीशुकदेव गोस्वामी वेणुगीतके प्रसंगमें व्रजगोपियोंके हृदयमें स्फुरित श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीका वर्णन इस श्लोकमें कर रहे हैं—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्त्तिः॥
(श्रीमद्भा. १०/२१/५)

(व्रजाङ्गनाएँ मन-ही-मन देखने लगीं कि) "श्यामसुन्दर अपने सखा गोपबालकोंके साथ वृन्दारण्यमें प्रवेश कर रहे हैं। उनके सिरपर मयूरपुच्छ, कानोंमें कनेरका पीला फूल, श्याम शरीरपर सुवर्ण जैसा चमकता पीला पीताम्बर और गलेमें पाँच प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंसे ग्रथित घुटनों तक लम्बी मनोहर वनमाला विराजमान है। रङ्गमंचपर सुन्दर अभिनय करनेवाले नटवरका सुन्दर वेश है। वेणुके छिद्रोंसे अपना अधरामृत प्रवाहित कर रहे हैं। उनके पीछे-पीछे ग्वालबाल उनकी लोकपावनी कीर्त्तिका गान कर रहे हैं। इस प्रकार वैकुण्ठसे भी रमणीय यह वृन्दावन धाम उनके शंख, चक्रादि लक्षणोंसे युक्त श्रीचरणकमलोंके चिह्नोंसे अंकित होकर और भी सुशोभित हो गया है।"

इनके अतिरिक्त और भी रासपंचाध्यायमें—गोपियाँ श्रीकृष्णकी वेणुनादकी सम्मोहिनी शक्ति द्वारा आकर्षित होकर अपने-अपने घरोंसे रातको श्रीश्यामसुन्दरके पास आती हैं, तो श्याम उन्हें ठठोलीकर अपने-अपने घरोंमें लौट जानेको कह रहे हैं, तब गोपियाँ श्रीश्यामसुन्दरकी रूप माधुरीका वर्णन कर रही हैं—

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायत वेणुगीत
सम्मोहितार्य चरितान् न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥
(श्रीमद्भा. १०/२९/४०)

"हे श्यामसुन्दर! तीनों लोकोंमें ऐसी कौनसी स्त्री है जो—मधुर-मधुर पद और आरोह-अवरोह क्रमसे विविध प्रकारकी मूर्च्छनाओंसे युक्त तुम्हारी वंशीकी तान सुनकर तथा इस त्रिलोक सुन्दर मोहिनी मूर्त्तिको, जो अपने एक बूँद सौन्दर्यसे त्रिलोकीको सौन्दर्यका दान करती है एवं जिसे देखकर गो, पक्षी, वृक्ष और हिरण भी रोमाञ्चित और पुलकित हो जाते हैं—अपने नेत्रोंसे निहारकर आर्य-मर्यादासे विचलित न हो जाएँ, कुलकी मर्यादा और लोकलज्जाको त्यागकर तुममें अनुरक्त न हो जाएँ।"

यहाँ श्रीकृष्णके वेणुनादको श्रवणकर व्रजगोपियाँ अपने समस्त भय, संकोच, धैर्य, मर्यादा आदिको भूलकर जो जैसी स्थितिमें थीं, उसी स्थितिमें श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए आतुर होकर दौड़ीं। यहाँ तक कि अपनी प्रिय प्राणसखीको भी बिना बुलाए वेगसे चल पड़ीं। प्रत्येक गोपी यही समझ रही है कि श्रीकृष्ण केवल मुझे ही बुला रहे हैं। जब श्रीकृष्णने देखा कि व्रजकी अनुपम विभूतियाँ गोपियाँ मेरे निकट आ गईं हैं, तब अपनी विनोद भरी वाक्चातुरीसे उन्हें मोहित करते हुए बोले—सुन्दरी गोपियो! इस रात्रिकालमें तुम अकेली यहाँ क्यों आई हो? क्या इस वनकी प्राकृतिक शोभा-सौन्दर्यको देखने आई हो, अब अपने घरको लौट जाओ। कुलीन स्त्रियोंका यह धर्म है कि वे अपने पति, पिता और भाई-बन्धुओंकी सेवा करें। पति चाहे बुरे स्वभाववाला, भाग्यहीन, मूर्ख, वृद्ध, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो, उसकी सेवा करना ही पतिव्रता स्त्रीका धर्म है। तुम लोग अपने-अपने घरको लौट जाओ। गोपियाँ प्रियतमके इस अप्रिय वचनको सुनकर उदास, खिन्न हो गईं। फिर कहने लगीं—प्यारे श्यामसुन्दर! तुम्हारा उपदेश ठीक है, किन्तु इस उपदेशके अनुसार तुम हमारे गुरु हुए तथा गुरुसेवा ही सर्वप्रथम करनी चाहिए। अब आप हमारी सेवा ग्रहण करें। अब तक हमारा चित्त घरके कार्योंमें लगता था, किन्तु तुमने वह चित्त चुरा लिया, अब हम घरमें कैसे लौटें?

श्रीकृष्ण जब अपनी प्रकट लीलाका संगोपन कर रहे थे, तब उन्होंने उद्धवजीको बुलाकर कहा कि मेरे चले जानेके बाद तुम

पृथ्वीपर भगवत्-धर्मका प्रचार करना। तुम्हें पृथ्वीपर छोड़कर जा रहा हूँ। श्रीकृष्णके चले जानेपर विरहमें विह्वल होकर उद्धव व्रजमें आ रहे थे, तो बीचमें विदुरजीसे भेंट हुई। उद्धवजीने विदुरजीसे श्रीकृष्णके लीला-संगोपनकी बात बतलाई। उस प्रसङ्गमें उद्धवजी द्वारा श्रीकृष्णके रूपका वर्णन—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥

(श्रीमद्भा. ३/२/१२)

"भगवान्ने अपनी योगमायाका प्रभाव दिखलानेके लिए नरलीलाके उपयोगी अपने जिस श्रीविग्रहको प्रकट किया, वह इतना मनोहर था कि उसे देखकर वे स्वयं भी विस्मित हो जाते थे। उस रूपमें सौभाग्य तथा सुन्दरताकी पराकाष्ठा थी। जिससे आभूषण भी विभूषित हो जाते थे।"

और भी देखिए, रासके समय श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेपर गोपियाँ विरहमें विलाप करती हुईं कीर्त्तन कर रहीं थीं। विलापमय कीर्त्तन सुनकर श्रीकृष्ण अपने आपको रोक नहीं सके और गोपियोंकी सभामें प्रकट हुए। जिस समय वे प्रकट हुए, उस समय उनका कैसा सौन्दर्य था, उसका वर्णन श्रील शुकदेव गोस्वामी कर रहे हैं—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥

(श्रीमद्भा. १०/३२/२)

उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था। गलेमें वैजयन्तीमाला सुशोभित हो रही थी, पीताम्बर धारण किए हुए थे। उनका रूप क्या था, सबके मनको मथ डालनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था। यहाँ 'पीताम्बरधरः' अर्थात् गोपियोंका विरह देखकर श्रीकृष्ण अपने पीताम्बरसे उनके अश्रु पोंछ रहे हैं।

प्रियजनको इतना कष्ट दिया, यह अनुभव करके स्वयंको अपराधी मान रहे हैं और अपराध क्षमा प्रार्थनाके लिए पीताम्बरको मुखमें दबा लिया है, मानों तृण दबा रखा हो। श्रीकृष्णकी उस समयकी छवि ऐसी थी कि कोटि-कोटि कामदेवके मनको भी मथनेवाली थी।

यहाँ श्रीशुकदेव गोस्वामी गोपियोंके भावमें विभावित होकर अपने बाह्य स्वरूपको भूल गए, अत्यन्त झुँझलाते हुए उन्होंने श्रीकृष्णके लिए 'शौरि' शब्दका प्रयोग किया कि तुम क्षत्रियोंके समान कठोर हो, गोपवंशके कोमल हृदयवाले नहीं हो, नहीं तो हमें (हम सब गोपियोंको) छोड़कर नहीं जाते।

गोपियोंके मध्य श्रीकृष्ण अपने असमोर्द्ध रूपमें समस्त शोभाको प्रकाशित करते हुए प्रकट हुए। गोपियाँ पूर्ण रूपसे श्रीकृष्णप्रेमसे लबालब हैं। भगवान्के सौन्दर्यका निखार उनके परिकरोंके हृदयस्थित प्रेमके कारण होता है। परिकर जितने श्रेष्ठ होंगे, उनकी रूप-माधुरीका प्रकाश भी उतना ही अधिक होगा। श्रील शुकदेव गोस्वामी अधिक स्पष्ट रूपसे वर्णन करते हैं—

चकास गोपी परिषद्गतोऽर्चित-
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत्॥
(श्रीमद्भा. १०/३२/१४)

सहस्र-सहस्र गोपियोंके बीचमें उनसे पूजित होकर भगवान् श्रीकृष्ण बड़े ही शोभायमान हो रहे थे। तीनों लोकोंमें, तीनों कालोंमें जितना भी सौन्दर्य प्रकाशित होता है, वह सब तो भगवान्के बिन्दुमात्र सौन्दर्यका आभासमात्र है। वे उसके एकमात्र आश्रय हैं।

श्रीनारायणमें भी सौन्दर्य है, उस रूपसे आकर्षित होकर लक्ष्मी दिन-रात उनकी श्रीचरणसेवामें लगी रहती हैं। किन्तु हृदयमें श्रीकृष्ण-माधुरीका स्मरण होते ही, श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीको देखनेकी लालसा होती है। सोचती हैं, रासमें तो प्रवेश नहीं मिलेगा, दूरसे ही रास-लीलाका दर्शन करूँगी। इसका क्या कारण है? कहते हैं, रासमें गोपी-समाजमें श्रीकृष्णका जो असमोर्ध्व रूप प्रकटित हुआ, वह अन्यत्र कहीं भी प्रकाशित नहीं हुआ है। वह कैसा है? वह रूप

साक्षात् मन्मथ-मन्मथ रूप है। उसी रूपका यहाँ वर्णन कर रहे हैं—श्रीकृष्ण उदूखलसे कूदकर भाग रहे हैं, सशङ्कित नेत्रोंसे पीछे देख रहे हैं। कानोंमें कुण्डल झिलमिला रहे हैं, गलेमें त्रिवली है, कमरमें करधनी सुशोभित है, श्रीचरणोंमें नूपुरोंकी ध्वनि भी निराली गूँज कर रही है। नग्नावस्था है, मात्र ढाई वर्षकी आयु है।

श्रीसनातन गोस्वामीपाद बृहद्भागवतामृतमें इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—परिकरोंके वैशिष्ट्यसे भगवान्‌के रूप-सौन्दर्यका वैशिष्ट्य होता है। बहिर्मुख जीवोंपर दया करने तथा व्रजप्रेम देनेके लिए श्रीकृष्णने अपने 'नवकिशोर-नटवर गोपवेश वेणुकर' रूपको प्रकट किया है। यही रूप समस्त रूपोंका मूल आधार है। इसी रूपसे समस्त अवतार प्रकाशित होते हैं॥१॥

इति श्रीदामोदराष्टकके प्रथम श्लोकको दिग्दर्शिनी-वृत्ति समाप्त।

द्वितीयः श्लोकः

रुदन्तं मुहुर्नेत्र–युग्मं मृजन्तं,
कराम्भोज–युग्मेन सातङ्क–नेत्रम्।
मुहुःश्वास–कम्पत्रिरेखाङ्क–कण्ठ–
स्थित–ग्रैवं दामोदरं भक्तिबद्धम्॥२॥

अन्वय—[माँके हाथमें छड़ीको देखकर] रुदन्तं (रो रहे); [इसलिए] कराम्भोज–युग्मेन (कमल जैसे दोनों हाथोंसे); मुहुः (बारम्बार); नेत्र–युग्मं (दोनों आँखोंको); मृजन्तं (एक साथ मसल रहे); सातङ्कनेत्रं (अतिशय भयभीत दोनों नेत्रवाले); मुहुः श्वास–कम्प–त्रिरेखाङ्क–कण्ठस्थित–ग्रैवं (बारम्बार जोरसे श्वासके कारण शंखके समान तीन रेखाओंसे युक्त कण्ठमें कम्पित हो रहे आभूषणोंवाले); दामोदरं (जिनके उदरपर रस्सी है, उनको); भक्तिबद्धं (माँकी वात्सल्यभक्तिसे ही बन्धनको स्वीकार किए हुए हैं, न कि रस्सीसे बँध हैं, उनको); [नमामि—नमस्कार करता हूँ]॥२॥

श्लोकानुवाद—जननीके हाथमें छड़ी देखकर मार खानेके भयसे डरकर जो रोते–रोते बारम्बार अपनी दोनों आँखोंको अपने हस्तकमलसे मसल रहे हैं, जिनके दोनों नेत्र भयसे अयन्त विह्वल हैं, मैया यशोदा अपने लालाका हाथ पकड़कर डाँट रही हैं, रोदनके आवेगसे बारम्बार श्वास लेनेके कारण शंखकी भाँति त्रिरेखायुक्त कण्ठमें पड़ी हुई मोतियोंकी माला आदि कण्ठभूषण जिनके कम्पित हो रहे हैं और जिनका उदर (माँ यशोदाकी वात्सल्यभक्तिके द्वारा) रस्सीसे बँधा हुआ है, उन सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीदामोदरकी मैं वन्दना करता हूँ॥२॥

दिग्दर्शिनी–टीका—तदनन्तर 'लीला'–विशेषं वदन् (श्रीमद्भा. १०/९/११)—"कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी, कर्षन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना। उद्वीक्षमाणा भयविह्वलेक्षणं, हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत्॥" इत्यर्थमाह—रुदन्तमिति।

[रुदन्तम्] मातृहस्ते यष्टिं दृष्ट्वतया ताड़नमाशङ्क्य भीतत्वादि-प्रदर्शनेन तत्परिहरणाय क्रन्दन्तम्, अतएव कराम्भोजयुग्मेन नेत्रयुग्मं मृजन्तं युगपन्मार्जयन्तं, एतच्च बाल्यलीला-विशेषस्वभावतः; यद्वा, भयावेशेन सद्योऽनुगच्छतोऽश्रुणो निष्कासनार्थं, यद्वा, अश्रुधारापसारनार्थमिति दिक्। यतः सातङ्के सशङ्के नेत्रे अपि, किं पुनर्मनो यस्य तम्; यद्वा, सभय-निरीक्षण-नेत्रयुगमित्यर्थः। ततश्च ताड़न-परिहारार्थमिदमपि लीलान्तरमूह्यम्। किञ्च, मुहुः श्वासेन रोदनावेशकृतेन, कम्पत् कम्पमानं, त्रिरेखाङ्के कम्बुवद्रेखात्रय-चिह्ने, कण्ठे स्थितं ग्रैवं ग्रैवेयकं सर्वं ग्रीवाभूषणं मुक्ताहारादि यस्य, [दामोदरं] दाम उदरे यस्य; अनेन च (श्रीमद्भा. १०/९/१४)—"गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा।" इत्युक्तम्।

दाम्नोदरे उलूखले चोभयतो बन्धनमुक्तं, तदेवाभिव्यञ्जयन् भक्तवश्यता-विशेषेणोत्कर्षविशेषमाह—भक्त्यैव मातुः स्वविषयकया तस्य वा मातृविषयकया, बद्धं स्वीकृत-बन्धनं, न तु पाशवर्गबलात्, सर्वतः समुच्चितैरप्यनन्तैः पाशैर्न्यूनद्व्यङ्गुलापूरणात्। तच्चोक्तं (श्रीमद्भा. १०/९/१५-१७)—"तद्दामबध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः। द्व्यङ्गुलोन-मभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका॥ यदासीत्तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे। तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद्यदादत्त बन्धनम्॥ एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि।" इत्यादि। यद्वा, दामोदरत्वे हेतुः—भक्त्यैव बद्धं वशीकृतं, तथापि स एवार्थः पर्यवस्यति। किञ्च, (श्रीमद्भा. १०/९/१८-२१)—"स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः। दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने॥ एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता। स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥ नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्ग-संश्रया। प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥ नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥" इत्येषामर्थः, तथा (श्रीमद्भा. १०/१०/२५)—"देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ। तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मना॥" इत्यादेरर्थोऽपि श्रीनारदभक्त्यपेक्षया यमलार्जुन-भञ्जनादि-तत्तल्लीलारूपोऽनेन सूचितः॥२॥

इति श्रीदामोदराष्टके द्वितीयश्लोके श्रीलसनातन गोस्वामिकृता
दिग्दर्शिनी-नाम्नी टीका समाप्ता।

दिग्दर्शिनी-टीकाका भावानुवाद—पिछले श्लोकके अन्तमें लीलाविशेषके द्वारा उत्कर्षविशेष बताया गया। पुनः यहाँ उसके बाद "रुदन्तं" इत्यादि

द्वारा लीलाविशेष कहते हुए श्रीमद्भागवतके निम्नोक्त पद्यका अर्थ कह रहे हैं—

कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कर्षन्तभञ्जन्मषिणी स्वपाणिना।
उद्वीक्षमाणा भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरात्॥

अर्थात् अपराधी, रोते हुए, जिन आँखोंके अश्रुसे आँखका कज्जल सर्वत्र प्रसरित हो रहा है, उन आँखोंको अपने हाथसे पोंछते हुए, श्रीयशोदाके द्वारा देखे जा रहे, अतएव भयसे विह्वल आँखोंवाले श्रीकृष्णको यशोदा हाथमें पकड़कर डराते हुए डाँटने लगी।

सत्यव्रत मुनि कह रहे हैं—माताके हाथमें छड़ी देखकर यह आशंकाकर कि मैया मुझे मारेगी, "मैं भयभीत हूँ"—यह दिखाते हुए यह सोचकर रोते हुए कि मुझे डरा हुआ देखकर मारना छोड़ देगी, इसीलिए कमल-से दोनों हाथों द्वारा दोनों आँखोंको एक ही साथ मल रहे श्रीकृष्णको मैं नमस्कार करता हूँ। दोनों आँखोंको एक साथ मलना बाल्यलीला विशेषके स्वभावके कारण हो सकता है अथवा भयावेशके कारण तुरन्त ही निकल रहे आँसुओंको निकालनेके लिए हो सकता है अथवा आँसुओंकी धाराको बन्द करनेके लिए हो सकता है।

"**सातङ्कनेत्रं**"—जिनकी आँखें भी सशङ्कित हैं, फिर मनकी तो बात ही क्या, मैं उन ईश्वर श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ अथवा भयपूर्वक देख रही जिनके आँखें हैं, उनको नमस्कार करता हूँ। इसलिए माँकी ताड़नासे बचनेके लिए यह लीला भी यहाँ विचारणीय है। और भी, रोदनके आवेशके कारण बारम्बार श्वास लेनेसे शंखकी तरह तीन रेखाओंवाले कण्ठमें स्थित जिनके मुक्ताहार आदि गलेके आभूषण कम्पित हो रहे हैं तथा जिनके उदरपर डोरी बँधी है, उन ईश्वर श्रीकृष्णको मैं नमस्कार कर रहा हूँ। इसके द्वारा "गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा।"—इस भागवतीय (१०/९/१४) पद्यका अर्थ उक्त हुआ। डोरीके द्वारा उदरपर तथा ऊखलमें, दोनों स्थानपर बन्धन उक्त हुआ, उसीको अभिव्यञ्जित करते हुए भक्तवश्यता विशेष

द्वारा उत्कर्षविशेष कह रहे हैं—"भक्तिबद्धं" अर्थात् जिन्होंने अपने सम्बन्धमें माताकी भक्ति द्वारा अथवा माताके सम्बन्धमें अपनी भक्ति द्वारा बन्धनको स्वीकार किया है, उन ईश्वर श्रीकृष्णको मैं नमस्कार कर रहा हूँ। यहाँ बन्धन परस्परके विषयमें भक्ति द्वारा ही है, न कि पाशसमूहके बलसे, क्योंकि सभी स्थानोंसे संगृहीत अनन्त पाशोंके द्वारा भी वह बन्धन दो अँगुल छोटा ही रह जाता था। यही बात श्रीमद्भागवतमें भी कही गई है—

तद्दाम-बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।
द्व्यङ्गुलोनमभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका॥
यदासीत्तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद्यदादत्त बन्धनम्॥
एवं स्वगेह-दामानि यशोदा सन्दधत्यपि।
(श्रीमद्भा. १०/९/१५-१७)

अपराधी बालकको बाँधते समय वह बन्धनकी डोरी दो अंगुल छोटी हो रही थी। यशोदा मैयाने उस डोरीको दूसरी डोरीसे जोड़ा; परन्तु फिर भी वह रस्सी दो अंगुल छोटी पड़ गई। इस प्रकार जितनी भी डोरियाँ परस्पर जोड़ी गईं, फिर भी वह डोरी दो अंगुल ही छोटी पड़ रही थी। इस प्रकार मैया यशोदाने अपने घरकी रज्जुओंको एकत्रितकर बाँधनेका प्रयत्न किया, परन्तु बाँध न सकीं।

अथवा दामोदरत्वका हेतु यह है कि जो भक्ति द्वारा ही बद्ध अर्थात् वशीभूत हो गए। तथापि अर्थ एक समान ही पर्यवसित होता है। और भी, इस लीलाके द्वारा श्रीमद्भागवतके अग्रलिखित पद्योंका अर्थ सूचित होता है तथा श्रीनारदजीकी भक्तिकी अपेक्षासे यमुलार्जुनभञ्जन आदि वे लीलाएँ भी सूचित होती हैं। यथा—

स्वमातुः स्विन्न-गात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने॥
एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥
नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥
(श्रीमद्भा. १०/९/१८-२१)

(माता यशोदा कृष्णको बाँधते समय) पुनः-पुनः डोरियोंमें गाँठ लगाकर कन्हैयाको बाँधनेका प्रयत्न कर रही हैं, जिससे उनके श्रीअङ्गोंसे मोतीके समान पसीनेकी बूँद ढरकने लगे एवं केश बन्धन-स्थित माला स्खलित होने लगी। बालक श्रीकृष्णने जब माताको थका हुआ देखा तो कृपापूर्वक स्वयं ही बँध गए। हे महाराज परीक्षित! ब्रह्मादि आधिकारिक देववृन्दके साथ समस्त विश्व जिनके वशीभूत है, ऐसे स्वतन्त्र हरि श्रीकृष्णने बन्धन स्वीकारकर अपनी भक्तवश्यताको प्रकाशित किया। गोपी (यशोदा माता) ने जगतके मुक्तिदाता श्रीकृष्णसे जिस प्रकार अनुग्रह प्राप्त किया, वैसा अनुग्रह ब्रह्मा, महेश्वर यहाँ तक कि सर्वदा भगवान्की अर्द्धाङ्ग-विलासनी लक्ष्मीदेवीको भी प्राप्त नहीं हुआ। गोपिकासुत भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंके लिए जैसे सुलभ हैं, देहाभिमानी कर्मकाण्डी और तपस्वियों तथा साधक अथवा आत्मदर्शी ज्ञानियोंके लिए ऐसे सुलभ नहीं है। अर्थात् तपस्वी और योगी साधनके समय अति कष्ट स्वीकार करनेपर भी श्रीभगवान्को सम्यक् रूपसे प्राप्त नहीं कर पाते।

देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ।
तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मना॥
(श्रीमद्भा. १०/१०/२५)

देवर्षि नारद मेरे प्रियतम भक्त हैं। ये दोनों भी कुबेरके पुत्र हैं। इसलिए महात्मा नारदजीने पूर्वकालमें जैसा कहा था, उसी प्रकार मैं इन दोनोंका उद्धार करूँगा।

इति श्रीदामोदराष्टकके द्वितीय श्लोककी श्रीलसनातन गोस्वामीकृत दिग्दर्शिनी-नामक टीकाका भावानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी–वृत्ति—जिनकी भृकुटिसे त्रिलोक काँपता है आज वे मैयाके भयसे भीत हो रहे हैं। मैयाकी छोटी-सी छड़ी देखकर काँप रहे हैं और कह रहे हैं, मैया! देख, तू मुझे मत मार। मैंने दहीका मटका नहीं तोड़ा है।

"**रुदन्तं**"—मैया कुछ स्थूल देहकी है। मैया दौड़ रही है, उनकी कबरी खुल गई, कबरीमें लगे हुए पुष्प गिरने लगे। मानो पुष्प कह रहे हैं, मैया! तुम अकेली नहीं हो। हम भी तुम्हारे साथ हैं। जो भक्त अत्यन्त वैराग्ययुक्त रसके द्वारा अपने हृदयको निर्मल कर लेते हैं, वे उस निर्मल हृदयमें श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवाका स्मरण कर पाते हैं। ब्रह्माके ध्यानमें नहीं आते हैं, चतुःसनके हृदयमें भी व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण नहीं आते, कभी-कभी नारायण ध्यानमें आते हैं। बड़े-बड़े पराक्रमी वीर जिनको पकड़ नहीं सकते, उन्हीं अखिलरसमूर्त्ति श्रीश्यामको मैयाने पकड़ लिया। ऐसे ही नहीं पकड़ा, हाथमें छड़ी लेकर उसे धमकाने लगी—अब मारूँ? कन्हैया अश्रुपूर्ण नेत्रोंको मसलते हुए मैयाके पीछे छिपनेकी चेष्टा करते हैं और कह रहे हैं—मैया! मुझे मत मार। श्रीकृष्णकी दृष्टि मैयाकी ओर नहीं, उनकी छड़ीकी ओर है। मैया कहती है—बन्दर-बन्धो! चोर!! इसपर श्रीकृष्ण बोले—मैया! हमारे वंशमें कोई चोर नहीं है, तेरे ही वंशमें चोर है। मैया बोली—हाँ! तूने माखन नहीं चुराया तो बन्दरोंको कौन माखन खिला रहा था? तो कन्हैया कहते हैं—जिसने बन्दरोंको बनाया, वही खिला रहा है। मैया कहती है—अच्छा, ठीक-ठीक बता कि इस मटकेको किसने फोड़ा? तब कन्हैया कहते हैं—मैया! देख, जब तुम दूधकी रक्षा करनेके लिए दौड़ी, तो मैया! तू पैरोंमें मोटी-मोटी कडुले पहन रही हो न, उससे लगकर मटकी फूट गई। तब मैया पूछती है—फिर, तेरे मुखपर माखन कैसे लगा? तो कहते हैं—मैया! बन्दर माखन खा रहे थे, उस समय मैं बन्दरोंको भगा रहा था, तो बन्दरोंने भागते समय मेरे मुखपर माखन लगा दिया, इससे माखन लग गया। इस वार्त्तालापको सुनकर सभी गोपियाँ हँसने लगीं। मैयाने कहा—मैं ऐसे नहीं छोड़ूँगी, इसे बाँधूगी। वे सोच रही हैं कि

थोड़ी देरके लिए बाँध दूँ। दही मथनेके बाद इसे खोलकर माखन खिलाऊँगी और दूध पिलाऊँगी, फिर यह शान्त हो जाएगा।

मैया बड़े गम्भीर भावमें है। सोच रही है कि शासन नहीं करूँ तो यह महा धुरन्धर हो जाएगा। ऐसा सोचकर वे उसे बाँधनेका प्रयत्न करने लगी। यह देखकर श्रीकृष्ण रोने लगे। किन्तु मैयाने छोड़ा नहीं और बाँधने लगी।

तद्दाम-बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।
द्व्यङ्गुलोनमभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका॥
(श्रीमद्भा. १०/९/१५)

मानो मैया सोच रही है, एक तो कृष्ण खल है। खलका साथ देनेवाला दूसरा ओखल है। अतः ये दोनों ही दण्डनीय हैं। दोनोंको ही बाँधूगी। ऐसा बाँधू, जिससे कृष्णका हाथ नहीं पहुँचे। ऐसा सोचकर अपनी वेणीमें लगी हुई रेशमकी डोरीसे बाँधने लगी। कृष्णकी कमर केवल बारह अंगुलकी है। कमरमें सोनेकी करधनी पहने हुए हैं। बिल्कुल नङ्गे हैं। किन्तु उस डोरीसे कृष्णको नहीं बाँध सकी। डोरी दो अंगुल छोटी पड़ गई। फिर एक सखी द्वारा रस्सी मँगाई, किन्तु वह भी छोटी पड़ गई। बारम्बार रस्सी मँगाती गई, जोड़ती गई, किन्तु वह छोटी पड़ती गई। केवल दो अंगुल ही छोटी पड़ती है, एक या तीन अंगुली नहीं। क्यों?

इसका बहुत रहस्यमय उत्तर है। एक अंगुली है साधककी चेष्टा, दूसरी प्रभुकी कृपा। दोनोंके एकसाथ मिलनेपर ही भगवान् वशीभूत होते हैं। श्रीरामानुज सम्प्रदायमें दो न्याय हैं—(१) मार्जार-न्याय और (२) मर्कट-न्याय। मार्जार अर्थात् बिल्ली। जिस प्रकार बिल्लीका बच्चा कुछ भी चेष्टा नहीं करता है, मैया अपने मुखसे उसे पकड़कर जहाँ ले जाती है, बिना चेष्टाके वहीं चला जाता है। इसको मार्जार-न्याय कहते हैं। दूसरा मर्कटका अर्थ बन्दर होता है। जब बँदरी अपने बच्चेको पेटमें या पीठपर लेकर चलती है, उस समय वह स्वयं बच्चेको नहीं पकड़ती है, बच्चा स्वयं जोरसे माँको पकड़ता

है। जब वह एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर छलांग लगाती है, तब यदि बच्चा गिर जाए, तो बँदरियाँ कभी भी उस बच्चेको ग्रहण नहीं करती हैं।

उसी प्रकार उस सम्प्रदायमें और भी दो न्याय हैं—एक 'वड़गलै-न्याय' और दूसरा 'तेङ्कलै-न्याय' है। अर्थात् एक साधक अपनी चेष्टासे प्रभुकी प्राप्ति करता है और दूसरा प्रभुकी कृपापर ही निर्भर रहता है। किन्तु इस प्रसङ्गमें हमारे सम्प्रदायका यह मत है कि हमें एक नहीं, दोनों ही न्यायोंकी आवश्यकता है। इसमें दृष्टान्त यह हैं कि जैसे एक व्यक्ति कुएँमें गिर गया, और चिल्ला रहा है कि मुझे निकालो, मुझे निकालो। ऊपरवाले किसी दूसरे व्यक्तिने ऊपरसे एक रस्सी लटकायी और कहा—मैं रस्सी लटका रहा हूँ, तुम उसको पकड़ो। मैं तुम्हें खींचकर कुएँसे बाहर कर दूँगा। किन्तु यदि कुएँमें गिरा हुआ व्यक्ति उस रस्सीको पकड़ता नहीं है, तो फिर वह कैसे निकलेगा? उस व्यक्तिको रस्सीका एक छोर पकड़ना ही होगा और तब ऊपरवाला व्यक्ति उसे खींचकर बाहर निकाल सकेगा। यहाँ जिस प्रकार उस व्यक्तिका चिल्लाना और रस्सीको पकड़ना साधन है, ऊपरवाले व्यक्तिका उसे निकालना कृपा है, उसी प्रकार कुआँ—संसार है, रस्सी—भगवत्कृपा है, तथा रस्सी पकड़ना—साधनकी चेष्टा है।

मैयाने बाँधनेका उपक्रम नहीं छोड़ा, सतत लगी रही। सभी गोपियाँ ताली बजाकर कहने लगीं कि अरी मैया! इसके ललाटमें ब्रह्माने बन्धन नहीं लिखा, तो तू कैसे बाँध पाएगी? मैया मन-ही-मन लज्जित होकर सोचने लगी, बड़ी लज्जाकी बात है कि मेरे पेटसे जन्मे हुए बालकको मैं बाँध नहीं सकी। तब वह भगवान् श्रीनारायणकी शरणमें गई और मन-ही-मन प्रार्थना करने लगी—हे नारायण! तुम मेरी सहायता करो। यदि आज इसे नहीं बाँध पाई तो बड़ी लज्जाकी बात होगी, मेरी लाज रखो। उसका मुख नवीन सूर्यके समान लाल हो गया, मुखसे पसीनेकी बूँद मोतीकी भाँति ढरकने लगी। श्रीमद्भागवतमें इसका वर्णन इस प्रकार है—

स्वमातुः स्विन्न-गात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने॥

(श्रीमद्भा. १०/९/१८)

श्रीकृष्णने देखा कि मेरी माँका शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया है, चोटीमें गुँथी हुई मालाएँ गिर गई हैं और वे बहुत थक गई हैं, तब कृपाकर वे स्वयं ही माताके बन्धनमें बँध गए। साधकको भी ऐसा कठोर साधन भजन करना चाहिए, जिसे देखकर श्रीकृष्णका हृदय द्रवित हो जाए और उन्हें बरवस अपनी सेवा देनी पड़े। मैयाके दृढ़ सङ्कल्पको देखकर श्रीकृष्णका चित्त द्रवित हो गया अर्थात् श्रीकृष्णकी सर्वश्रेष्ठ सर्वशक्तिमयी भक्तवात्सल्यरूप कृपाशक्ति प्रकाशित हुई और तत्क्षणात् उनकी ऐश्वर्य शक्ति वहाँसे लुप्त हो गई तथा वे स्वयं बँध गए। जैसे मैयाका परिश्रम और अडिग सङ्कल्प था, ठीक उसी प्रकार साधकोंमें भी साधन, भजन, भाव, उत्कण्ठा, सम्बन्ध, ममता और प्रीति होनी चाहिए जिसे देखकर श्रीकृष्ण द्रवित हो जाएँ, उन्हें अपनी सेवामें लगानेके लिए परवश हो जाएँ।

यहाँपर एक विचारणीय विषय है। उक्त श्लोककी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर व्याख्या करते हैं—कन्हैयाकी कमर बारह अङ्गुलकी है और रस्सी इतनी लम्बी होती गई, फिर भी माँ कन्हैयाको क्यों नहीं बाँध सकी? क्योंकि कन्हैया सोच रहे हैं कि मेरा जो आवश्यक नित्यकर्म माखन चोरी करना, सखाओंके साथ खेलना बन्द हो जाएगा। इसलिए मैया मुझे बाँधे नहीं। साथ-ही-साथ उनकी अघटन-घटन-पटीयसी ऐश्वर्यशक्ति भीतर-ही-भीतर प्रकट होकर प्रभुकी सेवा करने लगी अर्थात् कमर ज्यों-की-त्यों रहने तथा रस्सी लम्बी होनेपर भी मैया कन्हैयाको बाँध नहीं पाई।

इस रहस्यमयी लीलाको वहाँ उपस्थित व्रजकी गोपियाँ नहीं समझ सकीं। योगमाया ही श्रीकृष्णकी सारी लीलाओंकी व्यवस्था करती हैं। रस्सी दो अंगुल छोटी क्यों? कृष्णको किसी साधारण रस्सीसे बाँधा नहीं जा सकता; क्योंकि जिसका न बाहर है, न भीतर, आदि है न अन्त, जो जगतके पहले भी थे, प्रलयके बादमें भी नित्य अपने स्वरूपमें विराजमान हैं। इस जगतके कण-कणमें व्याप्त हैं। कण-कणमें व्याप्त होते हुए भी वे अखिलरसामृतमूर्त्ति एवं "रसो वैः सः" हैं। वे समस्त इन्द्रियोंसे परे और अव्यक्त हैं—ऐसे भगवान्में माता यशोदाका

लौकिक सद्बन्धुवत् पुत्रका भाव है। इसलिए उन्होंने श्रीश्यामसुन्दरको बाँध दिया।

कृष्णेतर अन्याभिलाषाओं—भोग-वासनाओंको त्यागकर कर्म, योग, ज्ञान आदिसे अनाच्छादित स्वरूपसिद्धाभक्तिका अनुशीलन करनेसे ही श्रीकृष्णको बाँधा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌की जितनी भी शक्तियाँ हैं, उन सबमें कृपाशक्ति सर्वोपरि है। इस शक्तिके आगे ऐश्वर्यशक्ति कुछ भी नहीं कर सकती है। इस कृपाशक्तिके प्रकट होनेपर श्रीकृष्ण अपने आप वशीभूत हो जाते हैं।

अहो! देवकी और वसुदेवजीने पूर्व जन्ममें अत्यन्त कठोर तपस्या की थी, वे लोग भी श्रीकृष्णको बाँध नहीं सके। औरोंकी तो बात ही क्या? साधककी उत्कण्ठामयी कठोर भजन-चेष्टाको देखनेमात्रसे ही श्रीकृष्ण भक्तोंके वशीभूत हो जाते हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुसे पूर्व भक्ति तो थी, किन्तु भक्तिरस नहीं था। इस भक्तिरसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन श्रीमन्महाप्रभुके मनोऽभीष्ट स्थापक श्रीरूप गोस्वामीने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु और श्रीउज्ज्वलनीलमणि आदि ग्रन्थोंमें किया है। श्रीमन्महाप्रभुने श्रीस्वरूपदामोदर, श्रीरायरामानन्द, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर, श्रीभक्तिविनोद ठाकुर, श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर और श्रीगुरुदेव श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी आदिके द्वारा इस भक्तिरसका प्रचार-प्रसार करवाया है।

माँ यशोदाने कन्हैयाके हाथोंको पीठकी ओर पीछे ओखलसे बाँध दिया और पुनः दधि-मन्थनके लिए चली गई। किन्तु उनका मन पुत्रमें ही लगा रहा। इतनेमें दाम, श्रीदाम, सुदाम, मधुमङ्गल आदि सखा आ गए। उधर रोहिणी मैया भी बलदेव प्रभुके साथ उपानन्द गोपके घरसे नन्द भवनमें लौटीं। बलदेव प्रभु सखाओंके बीचमें आए, तो देखा कि छोटे भैयाके हाथ बँधे हुए हैं और वह रो रहा है। नेत्रोंसे काजल-मिश्रित अश्रुजल बह रहा है, मानो वक्षस्थलपर गङ्गा-यमुना प्रवाहित हो रही हों। बलदेव प्रभु क्रोधित होकर कन्हैया एवं सखासे पूछने लगे, किसने बाँधा? बलदेव प्रभु सोच रहे हैं कि जिसने भी कन्हैयाको बाँधा है, उसे आज दण्ड दूँगा। तब मधुमङ्गलने

दाऊ भैयाके कानमें बतलाया कि मैयाने बाँधा है। मैयाका नाम सुनते ही वे चुप हो गए। वे उस बन्धनको भी नहीं खोल सके, क्योंकि सख्यरससे बढ़कर वात्सल्यरस होता है। हाँ, बलदेव प्रभु मधुररसमें अनङ्ग-मञ्जरी रूपसे श्रीकृष्णका बन्धन खोल सकते थे। सभी सखा मिलकर कन्हैयाके बन्धनको खोलनेमें लग गए, किन्तु अन्त तक खोल नहीं पाए।

अब श्रीकृष्णका रोना बन्द हो गया। स्वयं श्रीकृष्ण भी उस बन्धनको नहीं खोल सके। सखाओंने कन्हैयासे कहा—सखा ओखलको हम लोग धक्का लगाते हैं, चलो बाहर खेलेंगे। उतनेमें श्रीकृष्णको अपने प्रियभक्त नारदजीके द्वारा कुबेरके यमजपुत्रोंको अभिशाप देनेकी बात स्मरण हो आई—

देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ।
तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मना॥

(श्रीमद्भा १०/१०/२५)

कुबेर देवर्षि नारदजीके प्रिय सखा हैं, उनके दो पुत्र थे नलकूबर एवं मणिग्रीव। ये दोनों धन, रूप, यौवन और उच्चकुलके अभिमानमें एवं मद्यपानसे मत्त होकर स्त्रियोंके साथ मन्दाकिनीमें स्नान कर रहे थे। इधरसे नारदजीको आया हुआ देखकर स्त्रियोंने जलसे बाहर आकर कपड़े पहन लिए और नारदजीको प्रणाम किया। किन्तु ये दोनों अभिमानमें अन्धे हो रहे थे, नारदजीको प्रणाम भी नहीं किया। नग्नावस्थामें वैसे ही खड़े रहे। सोचने लगे कि यह कहाँसे आ गया और निर्लज्ज होकर अप्सराओंको बुलाने लगे।

इनके दुराचारको देखकर नारदजीको दया आ गई और बाहरसे क्रोध जैसा अभिनय दिखलाते हुए उन्हें शाप दिया कि तुम्हारा वृक्षों जैसा आचरण है, जाओ वृक्ष हो जाओ। नारदजीका अभिसम्पात सुनकर ये लोग भयभीत हो गए। वे रोते-रोते नारदजीके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगे एवं अपने उद्धार (कल्याण) का उपाय पूछने लगे। नारदजीने कहा—तुम दोनों गोकुलमें नन्दभवनके पासमें ही यमलार्जुनके वृक्ष बनोगे। द्वापरके अन्तमें स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण बाल्यलीला करते हुए तुम लोगोंका उद्धार करेंगे।

श्रीकृष्णको सहसा भक्त श्रीनारदके अभिशापका स्मरण हो आया। वे कृपापरवश उक्त दोनों कुबेरजीके पुत्रोंका उद्धार करनेके लिए अपने सखाओंके साथ ओखलको खींचते-खींचते उन वृक्षोंके समीप ले आए। दोनों वृक्ष परस्पर सटे हुए थे। श्रीकृष्ण किसी प्रकार उन वृक्षोंके बीचसे निकल गए। किन्तु ओखल इसी पार तिरछी अटक गई। श्रीकृष्णने ओखलको खींचनेके लिए ज्यों ही जोर लगाया, त्यों ही दोनों वृक्ष प्रचण्ड शब्दके साथ जड़से उखड़कर गिर पड़े। उन दोनों वृक्षोंसे दो दिव्य पुरुष निकलकर श्रीकृष्णकी परिक्रमाकर स्तव-स्तुति करते हुए अपने अपराधके लिए क्षमा प्रार्थना करने लगे। श्रीकृष्णने कहा कि श्रीनारदजीके दर्शनोंका यह अमोघ फल है कि तुम जैसे दुराचारियोंको भी मेरा दर्शन प्राप्त हुआ। तुम्हारे जन्म-जन्मान्तरोंके पाप दूर हो गए। तुम्हें मेरी भावभक्ति प्राप्त हो। तदनन्तर वे श्रीकृष्णकी अहैतुकी कृपासे गोलोक वृन्दावनमें मधुकण्ठ और स्निग्धकण्ठ नामक कथा-वाचक होकर श्रीनन्दबाबा और गोपियोंकी सभामें पृथक्-पृथक् श्रीकृष्णकथा श्रवण करानेवाले परिकर हो गए।

करोड़ों जन्मोंकी सुकृतिके द्वारा जो प्राप्त नहीं हो सकता, वही श्रीगुरु-वैष्णव एवं श्रीहरिकी अहैतुकी कृपासे होता है। यदि व्रजरस-रसिक तत्त्व-अनुभवी स्वजातीय-स्निग्ध-आशय गोपीभावसम्पन्न भक्तोंका सङ्ग मिल जाए तो उन्हें अपना प्राणबन्धु जानकर लोभमयी भक्ति खरीद लो। प्राण देकर उनकी सेवा करो, उनके भाव कैसे खरीदे जा सकते हैं? अर्थात् उनका स्वामिनीजी एवं उनके परिकरोंसे जो सम्बन्ध, ममता, सेवाकी वासना है, उस सेवाकी वासनाके प्रति लोभ हो जाए, तभी उन रसिकोंकी सेवा सम्भव है और अपना जीवन भी सार्थक है। अन्य और कोई उपाय नहीं है।

दोनों वृक्षोंके गिरनेका प्रचण्ड शब्द सुनते ही नन्दबाबा दौड़कर वहाँ पहुँच गए और देखा कि दो विशाल वृक्ष इधर-उधर गिर पड़े हैं, कन्हैया बीचमें बँधा हुआ खड़ा है। उसे इस अवस्थामें देखकर वे सहम-से गए। सोचने लगे कि आज श्रीनारायणने हमारी बहुत रक्षा की है। यदि उन वृक्षोंके बीचमें अथवा उनके नीचे कन्हैया दब जाता

तो क्या होता? मैया भी दौड़कर वहाँ उपस्थित हुई और वह भयङ्कर दृश्य देखकर स्तम्भित हो गई। सोचने लगी—हाय! हाय! यह क्या हुआ? नन्दबाबाने बच्चोंसे पूछा—यह कैसे हुआ? तब बच्चोंने तोतली बोलीमें कहा—बाबा! कन्हैयाके स्पर्शसे ही दोनों वृक्ष गिर पड़े। इसमेंसे दो सुन्दर-सुन्दर देवता सदृश मनुष्य निकले। उन्होंने कन्हैयाकी हाथ जोड़कर स्तुतिकी और परिक्रमाकर उत्तर दिशामें चले गए।

इन सब बातोंको सुनकर बाबाको विश्वास नहीं हुआ। पुनः कृष्णको गोदमें ले लिया। अभी तक कन्हैया चुप थे। किन्तु बाबाके गोदमें जाते ही जोर-जोरसे रोने लगे। कन्हैयाको रोते देखकर ग्वालबाल और बाबाकी आँखोंसे भी अश्रु प्रवाहित होने लगे। बाबाने लालाको सान्त्वना दी और उसका बन्धन खोल दिया। वात्सल्यरसका बन्धन या तो वात्सल्यभक्त खोल सकते हैं या मधुररसवाले भक्त खोल सकते हैं। सख्य, दास्य, शान्तरसवाले नहीं खोल सकते हैं। यह बन्धन वात्सल्यप्रेमका बन्धन है, रस्सीका बन्धन नहीं। किन्तु मैया और बाबाके स्नेहमें भी तारतम्य है, बाबाके प्रेमसे मैयाका प्रेम कन्हैयाके प्रति अधिक है।

कन्हैयाकी यह स्थिति देखकर मैया प्राणहीन पुतलीके समान हो गई। रो भी नहीं सकी। नन्दबाबाने कन्हैयाको चुप कराकर अपनी झोलीसे निकालकर एक लड्डू दे दिया। बाबाने पूछा—कन्हैया! बता, तुझे किसने बाँधा? तब कन्हैया कहते हैं—मैयाने। इतना सुनते ही बाबा चुप हो गए। बाबाने मैयाको दण्ड दिया। क्या दण्ड दिया? प्रेमीजनोंसे बातचीत बन्द कर देना ही सबसे बड़ा दण्ड है। इससे बढ़कर अन्य कोई दण्ड नहीं होता है। अतः बाबा आज मैयासे कुछ बोले नहीं। अत्यन्त गम्भीर हो गए। वे कृष्ण-बलदेवको गोदीमें उठाकर ब्रह्माण्ड घाटपर गए, बच्चोंके साथ मल-मलकर स्नान किया। तदनन्तर खिड़कमें लौट गए।

आज यशोदा मैया तो प्राणहीन सूखी लकड़ीके समान हो गई है, बाबा दोनों बच्चोंको लेकर खिड़कमें चले गए। वहाँ दोनों बालकोंको मिश्रीके साथ धारोष्ण (गायके स्तनके दूधकी धार) दूध पेट भरकर

पिला दिया। घर आनेपर रोहिणी मैयाने जो रसोई बनाई उसे परोस दी। बाबाने चुपचाप वह रसोई बच्चोंको खिलाई, खानेके पश्चात् बाबाने भी थोड़ा-सा प्रसाद पाया और पुनः खिड़कपर चले गए। सायंकालका समय हो गया। उपानन्दकी स्त्री, रोहिणी मैया, व्रजकी प्रौढ़ महिलाएँ बाबाके पास पहुँची। रोहिणी मैयाने दाऊजीसे कहा—जा कन्हैयाको पकड़ ला। बलदाऊ कन्हैयाको पकड़ने गए। श्रीकृष्णने आज दाऊको ऐसा धक्का दिया कि दाऊ बहुत दूर जाकर गिर पड़े। अन्तमें उपानन्दकी स्त्रीने और रोहिणी मैयाने कन्हैयासे कहा—देखो कन्हैया तुम्हारी मैया बहुत रो रही है, उसके पास चलो। कन्हैया बोले—नहीं मैं नहीं जाऊँगा। रोहिणीने कहा—मेरे पास आओ। कन्हैयाने कहा—नहीं, मैं नहीं आऊँगा, क्योंकि मैंने उस समय तुम्हें जोर-जोरसे पुकारा, परन्तु तुम आई नहीं। अतः तुम्हारे समीप भी नहीं आऊँगा। रोहिणी मैयाने कहा—भोजन किसके साथ करेगा? कन्हैयाने उत्तर दिया—बाबाके साथ। रोहिणी—खेलेगा किसके साथ? कन्हैया—दाऊ भैयाके साथ। रोहिणी—सोयेगा किसके पास? कन्हैया—बाबाके साथ। रोहिणी—अब तक तो मैयाके पास सोता था, आज बाबाके पास सोएगा? तेरी मैया बहुत रो रही है। इतनेमें नन्दबाबाने कहा—मैं तेरी मैयाको पीट दूँ? कन्हैयाने बाबाका हाथ पकड़ लिया। अन्तमें रोहिणी मैयाने कहा—तेरी मैयाका "रामनाम सत्य है" हो गया तो? अर्थात् वह मर जाए तो? इतना सुनते ही कृष्ण बड़े जोरसे रोते हुए रोहिणी मैयाकी गोदमें चले गए और रोहिणीने कृष्णको लेकर यशोदाकी गोदमें बैठा दिया। उस समय माँ यशोदा जोरसे विलाप करने लगी। श्रीकृष्ण भी रोने लगे। नन्दबाबाका हृदय भी द्रवित हो गया। वे भी रोने लगे। मैया रोहिणी और एकत्रित सभी व्रजवासी रोने लगे। सारा वातावरण क्रन्दनमय हो उठा। अन्तमें व्रजके बड़े-बूढ़ोंने सबको सान्त्वना दी।

रातको भोजनके समय नन्दबाबाने कन्हैयासे कहा कि मैयाको पकड़कर मेरे पास ले आओ। श्रीकृष्ण झटसे मैयाके अञ्चलको पकड़कर बाबाके समीप ले आए। फिर माँ यशोदाने संकोच करते

हुए सबको भोजन परोसा। सबने आनन्दसे भोजन किया। तदनन्तर मैया यशोदा श्रीकृष्णको गोदीमें लेकर शयन कक्षमें चली गई—(श्रीजीवगोस्वामी कृत गोपालचम्पूसे)॥२॥

इति श्रीदामोदराष्टकके द्वितीय श्लोककी दिग्दर्शिनी-वृत्ति समाप्त।

तृतीयः श्लोकः

इतीदृक् स्वलीलाभिरानन्द–कुण्डे
स्वघोषं निमज्जन्तमाख्यापयन्तम्।
तदीयेशितज्ञेषु भक्तैर्जितत्त्वं,
पुनः प्रेमतस्तं शतावृत्ति वन्दे ॥३ ॥

अन्वय—इतीदृक् (जो इस प्रकार दामबन्धनादिरूप परममनोहर बाल्यलीलाओंके द्वारा); स्व–लीलाभिः (अपनी असाधारण क्रीड़ओंके द्वारा); स्व–घोषं (अपने गोकुलमें वास करनेवाले प्राणीसमूह अर्थात् अपनी लीलाशक्तिसे प्रकटित प्राणीगण); [सभीको] आनन्दकुण्डे (आनन्द रसमय अथाह जलाशयमें); निमज्जन्तं (पूर्ण रूपसे या निरन्तर सराबोर करते हैं); [उन्हीं लीलाओंके द्वारा] तदीयेशितज्ञेशु (भगवान्के ऐश्वर्य ज्ञानसे पूर्ण भक्तोंमें अथवा भगवान्के अतिमर्त्य लीलामयत्व आदि ज्ञानसे पूर्ण भक्तोंमें); भक्तैर्जितत्वं (अपनी भक्तवश्यता); आख्यापयन्तं (बतानेवाले); तं (ईश्वर दामोदरको); पुनः प्रेमतः (प्रेमपूर्वक); शतावृत्ति (सैकड़ों बार); अहं (मैं) वन्दे (नमस्कार करता हूँ) ॥३ ॥

श्लोकानुवाद—जो इस प्रकार दामबन्धनादिरूप बाल्यलीलाओंके द्वारा गोकुलवासियोंको आनन्द–सरोवरमें नित्यकाल सराबोर करते रहते हैं और जो ऐश्वर्य सम्पूर्ण ज्ञानी भक्तोंके निकट "मैं अपने ऐश्वर्यहीन प्रेमी भक्तों द्वारा जीत लिया गया हूँ"—ऐसा भाव प्रकाश करते हैं, उन दामोदर श्रीकृष्णकी मैं प्रेमपूर्वक बारम्बार वन्दना करता हूँ॥३ ॥

दिग्दर्शिनी–टीका—'गुण'–विशेषेणोत्कर्षविशेषमाह—इतीति। एवं भक्तवशतया, यद्वा, इत्यनया दामोदरलीलया, ईदृशीभिश्च दामोदर–लीला–सदृशीभिः परम–मनोहराभिः शैशवीभिः, स्वस्य स्वाभिर्वा असाधारणीभिः लीलाभिः क्रीडाभिः।

"गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद्भगवान् बालवत् क्वचित्। उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत्॥ बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्। बाहुक्षेपञ्च कुरुते स्वानां प्रीतिं समुद्वहन्॥" (श्रीमद्भा. १०/११/७-८) इत्याद्युक्ताभिः।

स्वघोषं निज-गोकुलवासि-प्राणिजातं सर्वमेव, आनन्दकुण्डे आनन्द-रसमय-गभीर-जलाशयविशेषे, नितरां मज्जन्तं मज्जयन्तम्, एतदेवोक्तम् (श्रीमद्भा. १०/११/८)—"स्वानां प्रीतिं समुद्वहन्" इति। यद्वा, घोषः कीर्त्तिः माहात्म्योत्कीर्त्तनं वा, स्वस्य स्वानां वा, गोप-गोप्यादीनां घोषो यथा स्यात्तथा स्वयमेवानन्दकुण्डे निमज्जन्तं परमसुखविशेषमनुभवन्तमित्यर्थः।

किञ्च, ताभिरेव तदीयेशितज्ञेषु भगवदैश्वर्य-ज्ञानपरेषु, भक्तैर्जितत्वम् आत्मनो भक्तवश्यताम् आख्यापयन्तं भक्तिपराणामेव वश्योऽहं, न तु ज्ञान-पराणामिति प्रथयन्तम्। अनेन च (श्रीमद्भा. १०/११/९)—"दर्शयंस्तद्विदां लोके आत्मनो भृत्यवश्यताम्।" इत्यस्यार्थो दर्शितः। तस्यार्थः—तं भगवन्तं, विदन्तीति तथा तेषां तज्ज्ञानपराणामित्यर्थः; तान् प्रति दर्शयन्निति।

यद्वा, तदीयानां भागवतानां प्रभावाभिज्ञेष्वेव, न चान्येष्वाख्यापयन्तम्, वैष्णवमाहात्म्यविशेषानभिज्ञेषु केवलज्ञानपरेषु भक्तेर्विशेषतस्तन्माहात्म्यस्य च परमगोप्यत्वेन प्रकाशनायोग्यत्वात्। एवञ्च 'तद्विदाम्' इति भृत्यवश्यता-विदामित्यर्थो द्रष्टव्यः। अतः प्रेमतः भक्तिविशेषेण शतावृत्ति यथा स्यात्तथा शत-शतवारान् तमीश्वरं पुनर्वन्दे।

अतो भक्तानामवश्यकृत्यं भक्तिप्रकार-विशेषरूपं वन्दनमेव मम प्रार्थ्यं, न त्वैश्वर्य-ज्ञानादीति भावः॥३॥

इति श्रीदामोदराष्टके तृतीयश्लोके श्रीलसनातन गोस्वामिकृता
दिग्दर्शिनी-नाम्नी टीका समाप्ता।

दिग्दर्शिनी-टीकाका भावानुवाद—इस श्लोकमें गुणविशेष द्वारा प्रार्थ्य वस्तुका उत्कर्षविशेष कह रहे हैं—इस प्रकार भक्तवशताके द्वारा अथवा उस दामोदरलीलाके द्वारा, दामोदरलीला जैसी परममनोहरा अपनी अन्य असाधारणी शैशवी लीलाओं अर्थात् क्रीड़ाओंके द्वारा स्वघोष अर्थात् गोकुलमें रहनेवाले सभी प्राणियोंको जो आनन्दरसमय गभीर जलाशयविशेषमें अतिशय सराबोर कर रहे हैं। उन ईश्वर श्रीकृष्णको नमस्कार है। यहाँ "स्वलीलाभिः" पदमें उक्त 'लीला' के द्वारा श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित पद्योंमें वर्णित लीलाका निर्देश

समझना चाहिए। तद्यथा—"गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद्भगवान् बालवत् क्वचित्। उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत्॥ बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्। बाहुक्षेपञ्च कुरुते स्वानां प्रीतिं समुद्वहन्॥"

"सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण कभी-कभी गोपियोंके फुसलानेसे साधारण बालकोंकी भाँति नाचने लगते। कभी भोले-भाले अनजान बालककी तरह गाने लगते। गोपियाँ कहतीं—यदि तुम नृत्य करोगे, तो तुम्हें लड्डू दूँगी—तब श्रीकृष्ण नाचने लगते। अथवा जब गोपियाँ हाथसे ताली बजाकर उत्साहित करतीं, तब वे अखिल ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् होकर भी साधारण बालकोंकी भाँति मुग्ध होकर गाने लगते। अथवा कभी वे उनके हाथकी कठपुतली (उनके सर्वथा अधीन) होकर नाचने गाने लगते। कभी उनकी आज्ञासे पीढ़ा ले आते, तो कभी दसेरी आदि तौलनेके बटखरे (बाट) लानेका आदेश देनेपर मानो श्रीकृष्ण उन्हें उठानेमें असमर्थ हैं—ऐसा भाव प्रदर्शन करते। कभी खड़ाऊँ ले आते, तो कभी गोपियोंको आनन्दित करनेके लिए पहलवानोंकी भाँति ताल ठोककर दाऊजी आदिसे लड़ने लगते।

आनन्दरसमय कुण्डमें सराबोर करनेका निर्देश ही श्रीमद्भागवतके "स्वानां प्रीतिं समुद्वहन्" वाक्यखण्डमें हुआ है।

अथवा यहाँ दूसरा अर्थ इस प्रकार है—'घोष' का अर्थ है—कीर्त्ति अथवा माहात्म्यका उत्कीर्त्तन। स्वस्य (अपना) अथवा स्वानां गोपगोप्यादीनां (स्वीय गोप-गोपी आदिका) घोषः (कीर्त्ति या माहात्म्योत्कीर्त्तन) यथा स्यात् तथा इति स्वघोषं, जो कि यहाँ क्रिया विशेषणके रूपमें व्यवहृत है। जो स्वघोषपूर्वक स्वयं ही आनन्दकुण्डमें निमज्जन कर रहे हैं अर्थात् परम सुखविशेषका अनुभव कर रहे हैं, उनको नमस्कार है।

और भी, जो भगवदैश्वर्यज्ञानपरायणोंमें यह प्रसिद्धि (घोषणा) कर रहे हैं कि मैं भक्तिपरायणोंके द्वारा वशीभूत होता हूँ न कि ज्ञानपरायणोंके द्वारा, उनको नमस्कार है। इसके द्वारा "दर्शयं—स्तद्विदां लोके आत्मनो भृत्यवश्यताम्।" भागवतीय (१०/११/९) पद्यका अर्थ प्रदर्शित हुआ है। इस भागवतीय पद्यमें 'तद्विदां' का अर्थ है—तं भगवन्तं विन्दतीति तेषां तज्ज्ञानपराणाम्। अतएव उक्त सम्पूर्ण पद्यका अर्थ इस प्रकार हुआ—श्रीकृष्ण उन ज्ञानपर भक्तोंके प्रति अपनी

भृत्यवश्यता प्रदर्शित करते हुए बालोचित क्रीड़ाओं द्वारा व्रजवासियोंका हर्ष उत्पन्न करते।

अथवा न्तदीयेशितज्ञेषु भक्तैर्जितत्वं" का दूसरा अर्थ इस प्रकार है—जो तदीय अर्थात् भागवतों (वैष्णवों) के प्रभावके विषयमें अभिज्ञ हैं, उनमें ही न कि अन्य वैष्णव माहात्म्यविशेषके विषयमें अनभिज्ञ केवलज्ञानपरायणोंमें, जो भक्तवश्यताका प्रकाश कर रहे हैं, उनको नमस्कार है, क्योंकि भक्ति और विशेषतः भक्तिका माहात्म्य परम गोपनीय होनेके कारण वैसे केवलज्ञानियोंमें इसका प्रकाशन अनुचित है। अतएव उपर्युक्त भागवतीय (१०/१९/९) पद्यमें 'तद्विदां' का अर्थ 'भृत्यवश्यताविदाम्' अर्थात् 'भृत्यवश्यता जाननेवाला' समझना चाहिए। अतः मैं सत्यव्रतमुनि प्रेमपूर्वक सौ-सौ बार उन ईश्वरकी पुनः वन्दना करता हूँ।

इसके द्वारा सत्यव्रतमुनि यह दिखाना चाह रहे हैं कि भक्तोंके द्वारा अवश्य करने योग्य, भक्तिका एक विशेष प्रकार—वन्दन ही मेरा प्रार्थनीय है, न कि ऐश्वर्य ज्ञानादि।

इति श्रीदामोदराष्टकके तृतीय श्लोककी श्रीलसनातन गोस्वामीकृत दिग्दर्शिनी-नामक टीकाका भावानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी-वृत्ति—श्रीकृष्णकी लीलाएँ अक्षय सरोवर हैं, जिनमें घोषपल्ली डूब जाती है। घोषपल्ली अर्थात् वह स्थान जहाँ श्रीकृष्णसम्बन्धी लीलाका घोष होता हो। पशु-पक्षी, गाय, गोप-गोपी सभी स्वच्छन्द रूपसे श्रीकृष्ण-चरित्रका घोष या उच्च स्वरसे गान करते हैं। वही ध्वनि मुखरित होती है—गायका दोहन करो, बछड़ा खोल दो, दोहनी लाओ आदि-आदि। यह सब कुछ गोपाल श्रीकृष्णके आनन्दके लिए हो रहा है।

श्रीकृष्ण अब थोड़े बड़े हो गए हैं। घरकी देहलीको पार करना सीख गए हैं। एक दिन बलदाऊ भैयाके साथ घरसे बाहर निकल गये, देखा घरके पास ही लाल-लाल सुन्दर पुष्प खिले हैं, किन्तु बेरके सूखे काँटोंके घेरेके अन्दर है। जैसे-तैसे उन काँटोंको उठाकर अन्दर चले तो गए और पुष्प भी तोड़ लिए, किन्तु पुनः काँटोंके

गिर जानेसे निकलनेका मार्ग बन्द हो गया। अब बाहर कैसे आएँ? बस जोर-जोरसे रोना प्रारम्भ हो गया। रोनेका शब्द सुनकर मैया घरसे बाहर आई और काँटोंको किसी प्रकार हटाकर दोनोंको बाहर निकाला।

कभी खाली तलवार या चाकू हाथमें ले लेते। कभी बड़े-बड़े सींगोंवाले साँढ़ोंकी सींग पकड़कर उनसे झूल जाते। कभी मणि-स्तम्भमें अपनी प्रतिछवि देखकर आश्चर्य चकित होकर वार्त्तालाप करनेकी चेष्टा करते।

एकदिन मैयाने कहा—कन्हैया! एक बछड़ेको ले आ। उसकी पूजा करनी है। कन्हैया बछड़ेके पास पहुँचे और उसे पकड़ कर लाने लगे; परन्तु वह आ नहीं रहा था। बड़े परिश्रमसे कन्हैया उसे ठेल-ठेलकर ला रहे हैं। घरमें आकर कन्हैयाने छींकेपर मटुकीमें माखन लटका देखा, मुँहमें पानी आ गया। बछड़ेके ऊपर चढ़कर छींकेपर रखी मटुकीसे माखन निकालने लगे। बछड़ा मौका पाकर भाग गया और कन्हैया छींकेसे लटके रह गए। मैया-मैया चिल्लाने लगे, तब मैयाने आकर नीचे उतारा और कन्हैयाको डाँटने लगी।

प्रातःकालमें यशोदा मैयाके घरमें श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिए गोपियोंका जमघट लग जाता था। कुछ गोपियाँ कहतीं—कन्हैया अधिक शक्तिशाली है, कुछ कहती—नहीं, बलदाऊ अधिक शक्तिशाली है, इसका निर्णय कैसे हो? दोनों परस्पर मल्ल युद्ध करें, जो जीतेगा उसे माखनका लोना मिलेगा। माखनका लोना देखते ही दोनोंके मुखमें पानी आ जाता और दोनों कुश्ती लड़ने लगते। जब कन्हैया जीतते तो, उनके पक्षकी गोपियाँ ताली बजातीं, जब वे हार जाते, तो बलदाऊके पक्षकी गोपियाँ ताली बजातीं।

कभी-कभी कोई गोपी लड्डूका लोभ देती। कन्हैया यदि तुम नृत्य दिखाओ तो ये लड्डू दूँगी। कन्हैया कमरपर हाथ रखकर ता-थई, ता-थई नाचते, बीच-बीचमें तान भी छेड़ते। श्रीकृष्णकी सूत्रधार व्रजाङ्गनाएँ हैं, जो उन्हें कठपुतलीकी भाँति नचा रही हैं। कभी मैयासे मिलने गोपियाँ घरमें आतीं और आदेश देतीं—कृष्ण! बैठनेके लिए पीढ़ी लाओ। कृष्ण पीढ़ीको उठानेका प्रयत्न करते, परन्तु उठा नहीं

पाते। इसे देखकर गोपियाँ, व्रजवासी प्रसन्न हो जाते। जिन्होंने गोवर्धन-पर्वतको गेंदकी भाँति अपनी कनिष्ठ अँगुलीपर अनायास ही उठा लिया, वराह रूपमें पृथ्वीको अपने दाँतोंपर रख लिया, वे व्रजमें एक पीढ़ी भी नहीं उठा पा रहे हैं। यही माधुर्यमयी नरवत् लीला है। सर्व-नियन्ता हैं, सर्व-नियामक हैं, किन्तु व्रजवासियोंके नियन्त्रणमें हैं। सर्वशक्तिमान्, अघटन-घटन-पटीयसी शक्तिसे युक्त हैं, किन्तु व्रजमें अबोध बालक हैं, अपनी मैयाके लाल्य-पाल्य हैं। आज्ञाकारी पुत्रकी भाँति बाबाकी जूती सिरपर उठाकर लाते हैं, जिसे पहनकर बाबा बैठकमें जाएँगे।

''इतीदृक स्वलीलाभिरानन्द-कुण्डे स्वघोषं निमज्जन्तं''—श्रीकृष्णकी मधुर बाल्यलीला, अखण्ड, अनन्त, सीमारहित रसमय जलाधार हैं। श्रीकृष्ण अपनी बाललीला-माधुरी द्वारा व्रजकी आभीर पल्ली या गोप-पल्ली—गोप, गोपी, गाय, बछड़ा सभीको अपनी लीला माधुरीरूप अथाह सागरमें डुबो देते हैं या स्वयं डूब जाते हैं। इस प्रकार लीला क्यों कर रहे हैं? तदुत्तरमें कहते हैं—"तदीयेशीतज्ञेषु"—जो तत्त्वज्ञानी हैं, वे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दरको सभी अवतारोंके मूल अवतारी, भगवत्ताकी सार सीमा, षडैश्वर्यपूर्ण, अघटन-घटन शक्तिसे युक्त देखते हैं। नारद, चतुःसनादि भक्तजन तत्त्वज्ञ हैं। इनको अपना ऐश्वर्य दिखला रहे हैं कि अघटन-घटन-शक्तिशाली होनेपर भी मैं इन व्रजवासियोंके वशीभूत हूँ। अबोध बालककी भाँति खेल रहा हूँ।

''इतीदृक् स्वलीलाभिः''—एकदिन मथुराकी एक फल विक्रयिनी व्रजमें आई। व्रजमें आनेसे पूर्व मथुरामें गोकुलस्थ श्रीकृष्णकी सुमधुर लीलाओंको सुनकर उसकी बहुत उत्कण्ठा हुई कि श्रीकृष्णका दर्शन करूँ। अतः श्रीकृष्णदर्शनकी उत्कण्ठासे वह व्रजमें आती। कभी श्रीकृष्ण सोते हुए होते, कभी मैयाकी गोदमें, कभी सखाओंसे घिरे, कभी घरके भीतर खेलनेमें व्यस्त होते। अनेक चेष्टा की, फिर भी दर्शन नहीं कर पाई। मथुराके लोगोंको श्रीकृष्णका दर्शन दुर्लभ है। व्रजवासियोंको सहजमें ही दर्शन हो जाते हैं। उसके हृदयमें ऐसी उत्कण्ठा हुई कि आज मैं श्रीकृष्णका दर्शन किए बिना मथुरा लौटूँगी ही नहीं।

ठीक इसी प्रकार साधककी प्रतिज्ञा होनी चाहिए—दिन-रात श्रीमन्महाप्रभु और श्रीरूपगोस्वामी द्वारा जो भक्तिके अङ्ग कहे गए हैं, उनका आचरण करूँगा। संख्यापूर्वक प्रीतिके साथ श्रीहरिनाम करूँगा। गुरु-वैष्णवोंकी सेवा करूँगा। प्रतिदिन श्रीमद्भागवत आदि भक्तिग्रन्थोंका अनुशीलन करूँगा। गोपीगीत, वेणुगीत, भ्रमरगीत, युगलगीतका प्रतिदिन पाठ करूँगा। कोई रसिक वैष्णव मिल जाए तो उनकी प्राण देकर सेवा करूँगा। जहाँ-जहाँ श्रीराधाकृष्णकी निभृत निकुञ्जलीला हुई हैं, उन-उन लीलास्थानोंपर जाकर वैसी ही सकातर प्रार्थना एवं लालसामयी स्तोत्र-स्तुतिका पाठ करूँगा। ऐसा करनेसे श्रीकृष्ण कहीं दूर नहीं हैं, अवश्य ही दर्शन देंगे।

ऐसा सङ्कल्प लेकर वह नन्दगोकुलमें आई और नन्दभवनके समीप चक्कर लगाती हुई उच्च स्वरसे फल लो, पके फल लो, आम लो, केले लो, अमरूद लो—पुकारने लगी। कुछ ही क्षणोंके पश्चात् श्रीकृष्णमें ऐसी तन्मय हो गई कि फलके स्थानपर गोपाल लो, गोविन्द लो, माधव लो, दामोदर लो—टेरने लगी। एक हाथसे फलकी टोकरी पकड़ रखी थी, वह भी छूट गई। किन्तु पूर्वाभ्याससे टोकरी गिरी नहीं। अन्तमें वह नन्दभवनकी देहलीके समीप ही बैठ गई।

श्रीकृष्णने फल-विक्रयिनीकी टेर सुनी। वे स्थिर नहीं रह सके। मैयाकी गोदीसे उतरकर पास ही गेहूँकी राशिसे एक अञ्जलि गेहूँके दानोंको उठाकर फल-विक्रयिनीके पास चले। छोटीसी अञ्जलि, उसमें भी कुछ ही दानोंके अतिरिक्त रास्तेमें सभी बिखर गए, कुछ ही दानें अञ्जलिकी सन्धि स्थानमें अटके रहे। फल-विक्रयिनीके समीप पहुँचे और उसकी टोकरीमें बचे-खुचे गेहूँके दानोंको डाल कर बोले—अरी! फल दो। फल-विक्रयिनी कुछ क्षण तक बालकृष्णके रूप-सौन्दर्यको देखकर ठगी-सी रह गई।

यहाँ सिद्धान्त यह है कि ऐसी उत्कण्ठाके बिना श्रीकृष्ण दर्शन नहीं देते। कैसी उत्कण्ठा? फल-विक्रयिनी जैसी उत्कण्ठा और तन्मयता। दर्शन और सेवाके बिना और कोई दूसरी अभिलाषा नहीं—कोई अनर्थ नहीं। ऐसे साधकोंको ही श्रीकृष्ण दर्शन देते हैं।

अब फल-विक्रयिनीको चेत हुआ और बोली—लाला! यदि मेरी गोदमें बैठकर मुझे एकबार 'माँ' कहो, तो ही फल दूँगी। श्रीकृष्णने चारों ओर देखकर कि कोई देख न ले, झट उसकी गोदमें बैठ गए, 'माँ' कहा और फिर झट खड़े होकर फल माँगने लगे। फल-विक्रयिनीके मनकी इच्छा पूर्ण हो चुकी थी। वह सारे फलोंको श्रीकृष्णको देना चाहती थी; परन्तु उनकी अञ्जलिमें जितने फल समा सके, भर दिए। कन्हैयाने फल लेकर घरके आँगनमें बैठी माँ यशोदाके अञ्चलमें रख दिए। मैयाने पूछा—लाला! फल कहाँ मिले? श्रीकृष्णने इशारेसे बता दिया—उधरसे। मैया बड़ी आनन्दित हुई। उन्होंने वहाँ उपस्थित सारी गोपियोंमें फल बाँट दिए; किन्तु आश्चर्यका विषय यह कि वे फल कम नहीं हुए। फल भी बड़े मधुर और सुस्वादु थे।

श्रीकृष्णके चले जानेपर फल-विक्रयिनीको कुछ भी होश नहीं रहा। उसका चित्त श्रीकृष्णने चुरा लिया था। वह वहीं बैठी-की-बैठी रह गई। कुछ समयके बाद किसी गोपीके झकझोरनेके बाद उसे चेतना आई। वह फलोंकी टोकरी सिरपर उठाकर मथुराकी ओर चल पड़ी। मार्गमें यमुनाके तटपर उसे टोकरी भारी प्रतीत हुई। वह उसे उतारकर देखने लगी—ओह! वह टोकरी विविध प्रकारके अमूल्य रत्नोंसे भरी थी। उसने रत्नों समेत टोकरीको यमुनाकी धारामें प्रवाहित कर दिया और फफक-फफककर रोने लगी कि श्रीकृष्णने मुझे वञ्चित कर दिया। मैं ठगी गई—यह कहकर प्रेममें विलाप करने लगी। वह फिर घर कभी नहीं लौटी। जिनका मन श्रीकृष्ण चुरा लेते हैं, उनकी ऐसी ही दशा होती है—

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(श्रीमद्भा. ११/२/४०)

अर्थात् प्रेमलक्षण-भक्तियोगसे भगवत्सेवाव्रतधारी साधु पुरुषोंके हृदयमें एकान्त प्रिय भगवान्‌के नामसंकीर्त्तनसे अनुराग और प्रेमका अङ्कुर उग आता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वह

साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है। लोक-लज्जा छोड़कर कभी हँसने लगता है, तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्को पुकारने लगता है, तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है एवं कभी उनको रिझानेके लिए नृत्य भी करने लगता है।

बालघाती रुधिर पीनेवाली भयङ्कर पूतना राक्षसी, जो श्रीकृष्णको मारनेके लिए आई थी, उसे केवल वञ्चनामय मातृवेश धारण करनेके कारण गोलोकमें धातृ-उचित गति उन्होंने प्रदान की थी। सुदामा विप्रको मुट्ठीभर चावलके कणोंके बदले न जाने क्या-क्या दिया था, वे सर्वस्व फलोंको देनेवाली इस फल-विक्रयिनीको क्या देंगे—चतुर्मुख ब्रह्माजी भी यह सोच नहीं पाते। तभी तो वे कहते हैं—

> एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवरातेति न-,
> श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।
> सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
> यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनय-प्राणाशयास्त्वत्कृते ॥
>
> (श्रीमद्भा. १०/१४/३५)

अर्थात् हे देवताओंके भी आराध्यदेव प्रभो! इन व्रजवासियोंको इनकी सेवाके बदले आप क्या फल देंगे? सम्पूर्ण फलोंके फलस्वरूप! आपसे बढ़कर और कोई फल तो है ही नहीं, यह सोचकर मेरा चित्त मोहित हो रहा है। आप उन्हें अपना स्वरूप देकर भी—उऋण नहीं हो सकते। क्योंकि आपके स्वरूपको तो उस पूतनाने भी अपने सम्बन्धियों—अघासुर, बकासुर आदिके साथ प्राप्त कर लिया, जिसका केवल वेश ही साध्वी स्त्रीका था, पर जो हृदयसे महान् क्रूर थी। फिर जिन्होंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय शरीर, पुत्र, प्राण और मन—सब कुछ आपके चरणोंमें ही समर्पित कर दिया है, जिनका सब कुछ आपके लिए ही है; उन व्रजवासियोंको भी वही देकर आप कैसे उऋण हो सकते हैं?

इस प्रकार श्रीकृष्ण प्रतिदिन ऐसी सुन्दर-सुन्दर लीला करके सारी घोषपल्लीको आनन्द प्रदान करते हैं।

श्रीकृष्ण व्रजवासियोंको अपनी मधुर-मधुर लीलाओंके द्वारा आनन्द सागरमें सराबोर कर रहे हैं। जिनको श्रीकृष्णके प्रति भगवत्ताका ज्ञान है कि वे सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, अनादि, सबके आदि, अघटन-घटन-शक्तियुक्त असमोर्द्ध स्वयंभगवान् हैं, उनको दिखा रहे हैं कि मैं भक्तिके द्वारा ही वशीभूत होता हूँ। किस भक्तिसे वशीभूत होता हूँ, इसको बतला रहे हैं—चतुःसनमें भी भक्ति है, ध्रुव महाराज, प्रह्लाद महाराज, नारदजी, उद्धवजी, यादवगण आदि सभीमें भक्ति है; किन्तु वैसी भक्तिसे मैं कभी भी वशीभूत नहीं हो सकता हूँ। "ऐश्वर्य शिथिल प्रेमे नाहि मोर प्रीत" (चै. च. आ. ३/१६) वे मेरी स्तव-स्तुति करेंगे, हाथ जोड़ेंगे, किन्तु व्रजके सुबल, श्रीदाम, मधुमंगल, मैया, बाबा, सर्वोपरि यदि गोपियोंकी भाँति भक्ति हो, तो वे वशीभूत होंगे। इन गोपियोंमें भी श्रेष्ठ श्रीमती राधिकाजी हैं। राधाजीकी किङ्करियोंकी भाँति भक्ति हो तो श्रीकृष्ण सम्पूर्ण रूपसे वशीभूत हो सकते हैं। यहाँ पर यही दिखला रहे हैं—

अनङ्ग-रङ्ग-मङ्गल-प्रसङ्ग-भङ्गुरभ्रुवां
सविभ्रमं ससम्भ्रमं दृगन्त-बाण-पातनैः
निरन्तरं वशीकृत-प्रतीति-नन्दनन्दने
कदा करिष्यसीह मां कृपाकटाक्षभाजनम्॥

(श्रीराधा-कृपाकटाक्षस्तोत्रम् ३)

प्रेमक्रीड़ाके रङ्गमंचपर मङ्गलमय प्रसङ्गमें बाँकी भृकुटी करके, आश्चर्य प्रकट करते हुए सहसा कटाक्षरूपी बाणोंकी वर्षासे श्रीनन्दनन्दनको निरन्तर वशीभूत करनेवाली हे सर्वेश्वरी राधिके! मुझे कब अपने कृपा-कटाक्षका पात्र बनाओगी?

श्रीसीताजीका स्वकीय मधुरभाव भी श्रीरामको वशीभूत नहीं कर सका। श्रीरामने उनका दो बार परित्यागकर जंगलमें भेजा। क्या श्रीकृष्ण स्वामिनीजीको घरसे निकाल सकते हैं? श्रीस्वामिनी तो उनके घरमें भी नहीं रहतीं। अरे निकालनेकी तो बात दूर रहे उनसे कह भी नहीं सकते, क्योंकि वे उनसे डरते हैं, हर समय राधाजीके प्रेममें सने रहनेके कारण भयभीत रहते हैं। कहीं मुझसे कोई त्रुटि न हो

जाए। उनकी तो बात ही अलग रहे गोपियाँ उन्हें नाचना एवं सभी कलाएँ सिखाती हैं—

'प्रियको नचवत सीखवती प्यारी
मान गुमान लकुटि लिये ठारी
डरपत कुञ्ज बिहारी॥

जब श्रीराधाजीको अनायास हैतुक–अहैतुक मान हो जाता है तो श्रीकृष्ण कहते हैं—

स्मरगरल–खण्डनं मम शिरसि मण्डनं देहि पदपल्लवमुदारं
(श्रीगीतगोविन्द १०/८)

श्रीराधाजीकी तो बात ही क्या? श्रीराधाजीकी सहचरियाँ श्रीरूपमञ्जरी तथा श्रीरतिमञ्जरी जब श्रीराधाजीके आदेशसे श्रीश्यामसुन्दरको उनके कुञ्जमें प्रवेश करनेसे निषेध करती हैं, तो वे उनकी पैयाँ पड़कर कुञ्जमें प्रवेशकी आज्ञा चाहते हैं। उनके चरणोंमें गिरकर चाटुकारी, लल्लू–चप्पू करते हुए प्रार्थना करते हैं। बताओ तो सही कैसा है श्रीराधाजीका दास्यपद। इसलिए हमारे श्रील रघुनाथदास गोस्वामी जी कहते हैं—

पादाब्जयोस्तव विना वरदास्यमेव।
नान्यत्कदापि समये किल देवि याचे।
सख्याय ते मम नमोऽस्तु नमोऽस्तु नित्यं॥
दास्याय ते मम रसोऽस्तु रसोऽस्तु सत्यम्॥
(श्रीविलापकुसुमाञ्जलि १६)

अर्थात् हे देवि! आप सब प्रकारके वरदान देनेमें समर्थ हैं; किन्तु मैं आपके श्रीचरणकमलोंकी सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता। आपके सख्यपदके लिए मेरा कोटि–कोटि बार नमस्कार है, मुझे तो केवलमात्र आपके श्रीचरणकमलोंकी सेवामें रस है, आनन्द है।

श्रीप्रबोधानन्दजी जो श्रीकृष्ण लीलामें तुङ्गविद्या हैं वे भी दासीपद प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना कर रहे हैं।

यत्किङ्करीषु बहुशः खलु काकु वाणी,
नित्यं परस्य पुरुषस्य शिखण्डमौलेः।
तस्याः कदा रसनिधेः वृषभानुजाया
तत्केलि-कुञ्ज भवनाङ्गन मार्जनी स्याम्॥
(श्रीराधारससुधानिधि ८)

गोपियोंके उठानेपर उठते हैं, बैठानेपर बैठते हैं, यह किसी भक्ति द्वारा सम्भवपर नहीं। मैया कहती हैं—आज कन्हैया तुम वनमें गइया चराने मत जाओ, क्योंकि तुम्हारा आज जन्मदिवस है। किन्तु यह मैयाका भी कहना न मानकर उत्साहपूर्वक गोचारणको जाते हैं। वनमें ऐसी क्या वस्तु है, जो वनमें जा रहे हैं? वनमें गोपियोंके साथ, श्रीराधाके साथ स्वछन्द विहार है, राधाकुण्ड, सूर्यकुण्ड, कुसुम-सरोवरमें मिलन होता है। वात्सल्यरससे भी उन्नत यह गोपियोंका माधुर्यरस है। जो वात्सल्यरसको भी अपनेमें क्रोड़ीभूत कर लेता है। सखाओंके साथ क्रीड़ा, गायोंको चराना गौण है। प्रियतमा गोपियोंके साथ विहार करना ही मुख्य है। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कहते हैं—सखियोंके बिना कृष्णलीलाका विस्तार नहीं है—

राधाकृष्णेर लीला एई अति गूढ़तर।
दास्य-वात्सल्यादि-भावे ना हय गोचर॥
सबे एक सखीगणेर इँहा अधिकार।
सखी हैते हय एइ लीलार विस्तार॥
सखी बिना एइ लीला पुष्ट नाहि हय।
सखी लीला विस्तारिया, सखी आस्वादय॥
सखी बिना एइ लीलाय अन्येर नाहि गति।
सखीभावे ये ताँरे करे अनुगति॥
राधाकृष्ण-कुञ्जसेवा साध्य सेई पाय।
सेई साध्य पाइते आर नहिक उपाय॥
(चै. च. म. ८/२००-२०४)

अर्थात् श्रीराधाकृष्णकी कुञ्जलीला अत्यन्त गूढ़ है, जो दास्य, सख्य और वात्सल्य भावोंके भी अगोचर है। केवल व्रजाङ्गनाओंका

ही इस निगूढ़ लीलामें अधिकार है। उनसे ही इस लीलाका विस्तार होता है और वे ही इसका आस्वादन करती हैं। इसमें उनको छोड़कर किसी भी दूसरेका प्रवेश नहीं है। जो सौभाग्यवश गोपियोंके भावोंका अनुगमन करते हैं, केवल वे साधक ही इस परमोच्च साध्यको पा सकते हैं।

अहो! कैसी हैं ये व्रजरमणियाँ, जो चुल्लूभर छाछके लिए श्रीहरि कृष्णको नचाती हैं—"छछियाभर छाछपर हरिको नचावें।" (रसखान)

एक समय देवाधिदेव श्रीमहादेव शङ्करजीने देखा कि हमारे परमाराध्यदेव व्रजमें प्रकट हुए हैं, वे उनके दर्शन करनेके लिए व्रजमें पधारे। और नन्दभवनके द्वारपर ऊँचे स्वरसे "अलख निरञ्जन-अलख निरञ्जन" कहकर डमरू बजाने लगे। मैया यशोदा यह सुनकर द्वारपर एक अद्भुत योगीको देखकर डर गई। बाघम्बर पहने हुए, गलेमें हड्डियोंकी माला, हाथ, पैर और गलेमें सर्पोंके आभूषण, हाथमें त्रिशूल, भयङ्कर जटाएँ, पासमें नन्दीश्वर साँड़, सारे शरीरमें भस्म रमाए हुए हैं—यशोदाजी तो एकदम डर गईं; फिर भी बोलीं—भिक्षा चाहता है? ठहरो, ला रही हूँ। तो शङ्करजीने उत्तर दिया—अरी मैया, मैं तो बड़ी दूर कैलाशसे चलकर आ रहा हूँ। तुम्हारे लालाका दर्शन करना चाहता हूँ। इतनेमें ही मैया बोली—जो तुझे खानेकी, पीनेकी आवश्यकता हो तो ले लो और चला जाओ। यहाँ डमरू जोर-जोरसे मत बजा। मेरा लाला सो रहा है, जग जाएगा। शङ्करजी बोले—अरी भोरी-भारी मैया! मुझे तेरा आटा-दाल, पटाम्बर, झोरी, खाने-पीने, रहने-सोनेकी कोई भी वस्तु नहीं चाहिए। मैं तो तेरे लालाका एकबार दर्शन करने आया हूँ। बस, मुझे यही भिक्षा चाहिए। मैया बोली—ऐं.....। अरे मोय बूढ़ी कूँ तो तेरो स्वरूप देखकर डर लग रह्यो है, मेरो लाला अति सुकुमार है, वह तेरो रूप देख डर जाएगो, मैं तोय नहीं दिखाऊँगी।

यह कहकर यशोदा मैया घरके भीतर चलीं गई। देवाधिदेव शङ्करजी भी कब माननेवाले थे। उन्होंने द्वारके समीप ही धूनी रमा दी और मन-ही-मन बोले—जब तेरो लाल बड़ो होगो, बाहर खेलने आवेगो, तभी तेरे लालका दर्शन करूँगो। अब तो बिना दर्शन किए

लौटूँगो नहीं। जिस स्थानपर वे बैठे थे, आज भी वह स्थान योगिया कुण्डके नामसे विख्यात है।

यशोदा मैयाने जब घरके भीतर प्रवेश किया तो देखा कि लाला बड़े जोरसे रो रहा है। वह किसी प्रकार चुप नहीं हो रहा है। मैयाने अपनी सहेलियोंसे परामर्श किया। एक प्रौढ़ा गोपी बोली कि वह कोई साधारण योगी नहीं; कैलाशसे आया है। वह डमरू बजाता है, उसे सुनकर लाला डरकर और भी क्रन्दन कर रहा है, तुम्हें अपने लालाको उसे दिखलानेमें ही भला है! यशोदा मैया और कोई भी उपाय न देखकर एक काले सूपमें लालाको सुलाकर, काले कपड़ेसे सर्वाङ्गको ढककर, नेत्रोंमें लम्बा काजर लगाकर, माथेपर काला टीका कर, उसे बाहर लाई और एक झलक दर्शन कराकर भवनके भीतर प्रवेश करने लगी। लाला अब चुप हो गया। यह देखकर मैया आश्चर्यचकित हो गई। योगिराजने कहा—मैया! मैं पास ही धूनी रमाऊँगा। यदि तुम्हारे लालाको नजर लगे तो मुझको बुलवा लेना। मैं नून और राईके साथ मन्त्रसे झाड़ दूँगा। तेरा लाला स्वस्थ्य हो जाएगा। अतएव जब-जब लाला रोता था, मैया योगिया-स्थानसे योगिको बुलवा लेती थी—

योगि! चलो नन्दभवनमें, यशोमती मैया तुम्हें बुलावे।
वाके लालको नजर लगी है, तै पै राई नून करवावें॥
रह रह योगि! नन्दभवनमें, व्रजमें वास सदा तू कीजो।
जब जब वाको लाला रोवे, तब तब दरसन दीजो॥

इस प्रकार योगीका जन्म सफल हो गया।

एक बार यशोदा मैया रातको कन्हैयाको लेकर थपथपाती हुई एक कहानी सुनाकर सुला रही थी। वह कहानी इस प्रकार है—एक राजा था। श्रीकृष्ण 'हूँ' कारी भरते जाते थे। उसका नाम दशरथ था। उसके चार पुत्र थे, कुछ बड़े होनेपर विश्वामित्र उन्हें यज्ञकी रक्षा हेतु ले गए। श्रीकृष्णने कहा—हूँ। यज्ञ-रक्षाके बाद वे विश्वामित्रके साथ मिथिलामें पहुँचे। वहाँ महाराज जनकने प्रतिज्ञा की थी जो धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ाकर धनुष तोड़ेगा, उसीके साथ अपनी पुत्रीका विवाह

दूँगा। श्रीकृष्णने कहा 'हूँ'। दूर-दूरके देशसे राजा आए। सभी हार गए। अन्तमें रामने धनुषको तोड़ा और सीताका विवाह रामसे हुआ। उसके बीच-बीचमें कृष्ण हुँकार भरते जा रहे हैं। थोड़ा-सा विलम्ब होनेपर भी उत्कण्ठित होकर पूछते हैं—मैया! फिर क्या हुआ? फिर मैया कहने लगी—पिताकी आज्ञा पालन करनेके लिए राम वनमें गए। राक्षस मारीच छलसे रामको वनमें ले गया, उधर रावण सीताका हरण कर ले गया। इतना सुनते ही श्रीकृष्ण रामके आवेशमें पलङ्गसे कूदकर बोले—लक्ष्मण! मेरा धनुष लाओ। लम्फ देकर उठे। श्रील रूपगोस्वामीजी कहते हैं ऐसे भावमें विभावित श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।

एकदिन मैया लालाको अपनी मीठी-मीठी बातोंमें लगाकर दही मन्थन कर रही थी, इतनेमें ही मैया किसी कार्यवश अन्यत्र चली गई। लालाकी नजर गगरीमें पड़ी। गगरीमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। फिर क्या था? मैयाके लौटनेपर जिद करने लगे, मैया! मैं तो यह खिलौना लूँगा। "मैया मैं तो चन्द्र खिलौना लेहौ।" मैयाने गगरीसे निकालकर एक माखनका लोना दे दिया। श्रीकृष्ण आनन्दपूर्वक पुनः गगरीमें देखने लगे। उन्हें पुनः वहाँ चन्द्रका प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ा। पुनः उसे पानेके लिए मचलने लगे, मैयाने कहा—इधर देखो! यह चन्द्र है। श्रीकृष्ण बोले—मैया! मैं चन्द्र लूँगा। मैया—इसमें विष लगा है। कृष्ण—इसमें विष कैसे लगा! मैया—एक बार देवता और दानव समुद्रका मन्थन कर रहे थे। उससे विष निकला, जो चन्द्रमें लग गया। देखो! चन्द्रमामें जो काला-काला धब्बा देख रहो हो, वह वही विष ही तो है। भला, इसके साथ कौन खेलेगा। इसे सुनकर श्रीकृष्ण डर गए।

इस प्रकार श्रीकृष्णकी अनन्त मधुर-से-मधुर लीलाएँ हैं, जिन लीलाओंके समुद्रमें वे स्वयं निमज्जित होते हैं और व्रजवासियोंको भी निमज्जित करते हैं॥३॥

इति श्रीदामोदराष्टकके तृतीय श्लोककी दिग्दर्शिनी-वृत्ति समाप्त।

चतुर्थः श्लोकः

वरं देव! मोक्षं न मोक्षावधिं वा
न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह।
इदन्ते वपुर्नाथ! गोपालबालं
सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः॥४॥

अन्वय—देव! (हे देव); वरेशात् (समस्त वर प्रदान करनेमें समर्थ आपसे); मोक्षं (चतुर्थ पुरुषार्थको); मोक्षावधिं वा (अथवा परमसीमा रूप घनीभूत सुखसे पूर्ण वैकुण्ठलोक); अपि (भी); अन्यञ्च (और श्रवण आदि भक्ति); अहं वरं (वरदानके रूपमें); इह (वृन्दावनमें); न वृणे (प्रार्थना नहीं करता हूँ); नाथ! (हे स्वामिन्!); [इस वृन्दावनमें] इदं गोपालबालं (वर्णित गोपाल बालरूप); ते (आपकी); वपुः (श्रीमूर्त्ति); सदा मे मनसि (सदैव मेरे हृदयमें); आविरास्तां (प्रकटित रहे); अन्यैः किं (मोक्ष आदि अन्य वरदानोंका प्रयोजन)॥४॥

श्लोकानुवाद—हे देव! आप सब प्रकारके वर देनेमें पूर्ण समर्थ हैं। तो भी मैं आपसे चतुर्थ पुरुषार्थरूप मोक्ष या मोक्षकी चरमसीमारूप श्रीवैकुण्ठ आदि लोक भी नहीं चाहता और न मैं श्रवण और कीर्त्तन आदि नवधाभक्ति द्वारा प्राप्त किए जानेवाला कोई दूसरा वरदान ही आपसे माँगता हूँ। हे नाथ! आपका यह बालगोपालरूप मेरे हृदयमें नित्यकाल विराजमान रहे। मुझे और दूसरे वरदानसे कोई प्रयोजन नहीं है॥४॥

दिग्दर्शिनी-टीका—एवमुत्कर्ष-विशेषवर्णनेन स्तुत्वा प्रार्थयते—वरमिति द्वाभ्याम्। देव हे परम-द्योतमान! हे मधुरक्रीडाविशेषपरेति वा, वरेशात् सकलवरप्रदान-समर्थात्, अपि त्वत्तः मोक्षं चतुर्थ-पुरुषार्थं, मोक्षस्यावधिं वा परमकाष्ठारूपं घनसुखविशेषात्मकं श्रीवैकुण्ठलोकं, अन्यञ्च श्रवणादि-

भक्तिप्रकारमहं वरं प्रार्थ्यं। यद्वा, अन्यैर्वरणीयमपि यद्वा, वरतया इह वृन्दावने न वृणे। इहेत्यस्य परेणापि सम्बन्धः।

अत्र च मोक्षादित्रयस्य यथोत्तर-श्रैष्ठ्यमूह्यम्। तत्र मोक्षाद्-वैकुण्ठलोकस्य श्रैष्ठ्यं श्रीभागवतामृतोत्तर-खण्डे [१/१४-१५] व्यक्तमेवास्ति। वैकुण्ठलोकाच्छ्रवणादि-प्रकारस्य च श्रैष्ठ्यं (श्रीमद्भा. ३/१५/४९)—"कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्तात्।" इत्यादिवचनतः श्रवणादिसिद्ध्या नरकादिष्वपि यत्र तत्र सर्वत्रैव वैकुण्ठवास-सिद्धेरिति दिक्।

तर्हि किं वृणुषे? तदाह—हे नाथ! इह वृन्दावने इदं वर्णितं 'गोपाल-बालरूपं' ते वपुः, सदा मे मनसि आविरास्तां; अन्तर्यामित्वादिना स्थितमपि साक्षादिव सर्वाङ्ग-सौन्दर्यादिप्रकाशनेन प्रकटं भूयात्।

ननु मोक्षादयोऽपि परमोपादेयास्तानपि वृणु? तत्राह—किमन्यैरिति; [अर्थात्] अन्यैर्मोक्षादिभिर्मम प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः, तस्य सर्वानन्दकदम्बात्मकत्वात्तत्सिद्ध्यैव सर्वसिद्धेः। तथा तदलाभे, निजेप्सितासिद्ध्या विशेषतश्च तुच्छलाभेन शोकविशेषोत्पादनादन्यैरपि किमिति भावः।

यद्वा, ननु मोक्षादयो न व्रियन्तां नाम, परमापेक्षाणि मदीय-श्रीचतुर्भुजादि-मूर्त्तिदर्शन-सम्भाषणादीनि व्रियतां, तत्राह—किमन्यैरिति। चित्ते त्वदेतच्छ्रीमवपुषः सदा स्फूर्त्तावेव ममात्यन्त-प्रीतिर्नान्यत्रेति भावः। अन्तर्दर्शन-माहात्म्यञ्च 'श्रीभागवतामृतोत्तर-खण्डे' [२/८६-९६] तपोलोके श्रीपिप्पलायनेन विवृत्योक्तमस्ति। एवं तस्य [सत्यव्रतस्य] प्रार्थनापि स्तुतावेव पर्यवस्यति, तस्यैव सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रार्थनात्, एवमग्रेऽपि ॥४॥

इति श्रीदामोदराष्टके चतुर्थश्लोके श्रीलसनातन गोस्वामिकृता
दिग्दर्शिनी-नाम्नी टीका समाप्ता।

दिग्दर्शिनी-टीकाका भावानुवाद—इस प्रकार उत्कर्षविशेषके वर्णन द्वारा स्तुति करनेके पश्चात् अब इन दो श्लोकों (४-५) में मुनि प्रार्थना कर रहे हैं—हे परम द्योतमान! अथवा हे मधुरक्रीड़ाविशेषपरायण! आप सभी प्रकारके वर देनेमें समर्थ हैं, तथापि मैं आपसे चतुर्थ पुरुषार्थरूप मोक्ष अथवा मोक्षकी पराकाष्ठारूप घनसुखविशेष-स्वरूपवाला श्रीवैकुण्ठलोक अथवा श्रवणादिभक्तिप्रकाररुप वर अर्थात् प्रार्थ्य अथवा अन्योंके द्वारा वरणीय अथवा वरदानके रूपमें मैं उस वृन्दावनमें नहीं माँगता। 'इह' पदका सम्बन्ध श्लोकके परभागसे भी है।

यहाँ मोक्ष, मोक्षावधि और श्रवणादिरूप वरोंकी क्रमशः श्रेष्ठता है। मोक्षकी अपेक्षा वैकुण्ठलोककी श्रेष्ठता श्रीभागवतामृतके उत्तर खण्डमें स्पष्ट ही है। वैकुण्ठलोकसे भी श्रवणादि भक्ति प्रकारकी श्रेष्ठता भागवतीय वचन—"कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नस्तात्" अर्थात् अपने पापोंके द्वारा हमारा जन्म नरकमें भी हो, तो हो के अनुसार सिद्ध होती है, क्योंकि श्रवणादि भक्तिकी सिद्धिके द्वारा नरकादिमें भी यत्र तत्र सर्वत्र वैकुण्ठवासकी सिद्धि होती है।

अच्छा, तुम इन वरदानोंको नहीं माँगते हो, तो क्या माँगते हो? उसके उत्तरमें मुनि कह रहे हैं—हे नाथ! मेरे द्वारा वर्णित जो वृन्दावनमें आपका गोपालबालरूप शरीर है, वह सदा मेरे मनमें प्रकट रहे। यद्यपि आपका अन्तर्यामी आदिका रूप हृदयमें स्थित है तथापि सर्वाङ्गसौन्दर्यादिका प्रकाश करते हुए साक्षात् जैसा प्रकट होवें।

प्रश्न—मोक्षादि भी परम उपादेय हैं, उन्हें भी ग्रहण करो। उत्तर—अन्य अर्थात् मोक्षादिसे मेरा प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आपका वपुः सर्वानन्दकदम्ब स्वरूप है, उसकी सिद्धि द्वारा ही सभी सिद्धियाँ हो जाएँगी। और, यदि उसकी प्राप्ति नहीं होती है, तो अपने अभीष्टकी असिद्धि होनेके कारण, विशेषतः तुच्छलाभके द्वारा शोकविशेषकी उत्पति होनेके कारण उन अन्य लाभोंसे मेरा क्या प्रयोजन है?

"किमन्यैः" की दूसरी व्याख्याकी जा रही है। प्रश्न—ठीक है, मोक्षादि मत लो, किन्तु परम अपेक्षित मेरी श्रीचतुर्भुजादि मूर्त्तियोंका दर्शन, उनसे सम्भाषणादि वर लो। उत्तर—चित्तमें आपकी इस श्रीमूर्त्तिकी सदा स्फूर्त्तिमें ही मेरी अत्यन्त प्रीति है, अन्यत्र नहीं।

अन्तर्दर्शनकी महिमाका वर्णन श्रीभागवतामृतके उत्तर खण्डमें तपो-लोकमें श्रीपिप्पलायन द्वारा विस्तारपूर्वक हुआ है। इस प्रकार सत्यव्रत मुनिकी प्रार्थना भी स्तुतिके रूपमें ही पर्यवसित हो रही है, क्योंकि अन्तदर्शनकी सर्वोत्कृष्टता होनेके कारण उसकी प्रार्थनाकी गई है।

इति श्रीदामोदराष्टकके चतुर्थ श्लोककी श्रीलसनातन गोस्वामीकृत दिग्दर्शिनी-नामक टीकाका भावानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी–वृत्ति—सत्यव्रत मुनि श्रीकृष्णकी लीला, विशेषकर वात्सल्यरसकी लीलाका वर्णन कर रहे हैं। वर्णन करते-करते उनका चित्त द्रवित हो गया और लीलामें तादात्म्य हो गए। श्रीकृष्ण ब्रह्मादि देवताओंकी स्तुतिसे प्रसन्न नहीं होते, किन्तु अपने भक्तोंके, विशेषकर व्रजके परिकरोंके लीला-चरित्रके गानसे प्रसन्न ही नहीं, वशीभूत हो जाते हैं। सत्यव्रत मुनि कहते हैं—हे दामोदर! आपकी मैयाका आपके प्रति अत्यन्त लाड़ दुलार है। वे कृपाकी महान मूर्त्ति हैं, वे प्रगाढ़ वात्सल्यभावसे लौकिक पुत्रवत् पालन-पोषण करती हैं। माँके गुण तो बालकमें आते ही हैं। अतः आप मेरे अपराध, पाप, अनर्थ आदि अवगुणोंको न देखकर मुझपर प्रसन्न होकर अहैतुकी अनुकम्पा करें। सत्यव्रत मुनिकी प्रार्थना सुनकर मानों श्रीकृष्ण प्रसन्न हो गए तथा मुनिको मन चाहा वर माँगनेको कहा। मुनि कहने लगे—अन्य किसी वरदानसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है, मुझे मोक्ष या मोक्षकी अवधि वैकुण्ठ भी नहीं चाहिए—

'वरं देव! मोक्षं न मोक्षावधिं वा।'

(श्रीदामोदराष्टकम् ४)

श्रीसत्यव्रत मुनि कहते हैं—हे भगवन्! आप सभी प्रकारके वरदान देनेमें समर्थ हैं, क्योंकि आप ईश्वरोंके भी मूल ईश्वर एवं सबके अंशी हैं, आपके लिए कुछ भी असम्भव नहीं। प्रथम वाञ्छित वस्तु है—मोक्ष। किन्तु मुझे यह वर नहीं चाहिए। श्रीमद्भागवतमें वृत्रासुर-उपाख्यानमें देखा जाता है—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥

(श्रीमद्भा. ६/११/२५)

"सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकछत्र राज्य, योगकी सिद्धियाँ—यहाँ तक कि मोक्ष भी नहीं चाहता।"

मोक्ष भी दो प्रकारके होते हैं—स्वसुखैश्वर्योत्तरा तथा प्रेमसेवोत्तरा। प्रथम प्रकारका मोक्ष अर्थात् स्वसुखैश्वर्योत्तरा, भक्ति-विरोधी तथा अपराधजनक है। "आत्यन्तिकी दुःख निवृत्तिरेव मुक्ति इति" अर्थात् संसारके जन्म-मरणादि दुःखोंसे आत्यन्तिक रूपसे छुटकारा पाकर निर्विशेष ब्रह्ममें मिलकर एक हो जाना—यही सायुज्य मुक्ति है। श्रीसनक, सनन्दनादि चतुःसन अपनी प्रथमावस्थामें इसी मुक्तिके अभिलाषी थे। इसके अतिरिक्त और भी चार प्रकारकी मुक्तियाँ हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सार्ष्टि अर्थात् भगवान्‌के समान ऐश्वर्य। इन सब मुक्तियोंका लक्ष्य अपने दुःखोंसे आत्यन्तिक रूपसे छुटकारा पाना ही है। इससे उन्नत अवस्था है, प्रेमसेवोत्तरा मोक्षकी। श्रीनारायणके चरणोंकी तुलसीके मकरन्दको सूँघकर निर्विशेष मुक्तिको छोड़कर चतुःसन ज्ञानीभक्त होकर प्रेमसेवोत्तरा मोक्षके अभिलाषी हुए।

भगवान्‌के भक्त इन दोनों प्रकारकी मुक्तियोंको भगवान् द्वारा दिए जानेपर भी स्वीकार नहीं करते—"दीयमानं अपि न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः," क्योंकि इनमें मुख्य अथवा गौण रूपमें स्वसुख तथा ऐश्वर्य भोगकी कामना होती है। ऐकान्तिक भगवत्सेवानुरागी भक्तजन इन्हें प्रेममयी परिचर्याका विरोधी मानते हैं।

सत्यव्रत मुनि आगे कहते हैं—"मोक्षावधि" अर्थात् निरवच्छिन्न घनीभूत वैकुण्ठका सुख मुझे नहीं चाहिए तथा "न च अन्यं" अर्थात् अन्य किसी वरकी भी मुझे अभिलाषा नहीं है। 'अन्य' अर्थात् श्रवण, कीर्त्तन, विष्णुस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदनरूप नवधा 'वैधी'-भक्तिका फल भी मुझे नहीं चाहिए।

इसपर श्रीकृष्ण आश्चर्यचकित होकर कहते हैं—नवधाभक्तिकी तो शास्त्रोंमें भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है और तुम इसे भी ग्रहण करना नहीं चाहते, तब तुम्हारी अभिलाषा क्या है?

सत्यव्रत मुनि आगे कहते हैं—मेरी केवल यही अभिलाषा है कि मैयाके भयसे भीत सशंक नेत्रोंसे इधर-उधर देखते हुए आपके बालगोपालका स्वरूप मेरे हृदयमें आविर्भूत हो। 'इह' अर्थात् इस वृन्दावनके बालगोपालका रूप सदा मेरे हृदयमें स्फुरित हो। इसके अतिरिक्त मुझे और कोई वर नहीं चाहिए।

श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण आदि करनेवाले साधकोंको स्वर्ग या नरकका विचार नहीं होता, वे केवल तत्त्वज्ञ और रसिक वैष्णवोंके आनुगत्यमें रहकर प्रेमाभक्ति करना चाहते हैं—

तन्नामरूपचरितादि-सुकीर्त्तनानु-
स्मृत्योः क्रमेण रसनामनसी नियोज्य।
तिष्ठन् व्रजे तदनुरागिजनानुगामी
कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम्॥
(श्रीउपदेशामृत ८)

अर्थात् भक्तिसाधकोंको चाहिए कि वे अपनी रसना और मनको अन्यान्य कृष्णेतर विषयोंसे हटाकर श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलाकथाके कीर्त्तन और स्मरणमें क्रमशः लगाकर श्रीव्रजमण्डलमें ही निवासकर और श्रीकृष्णके ही अनुरागीजनोंका अनुगामी बनकर अपने समस्त समयको व्यतीत करें—यही सारे उपदेशोंका सार है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहा गया है—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़भावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्त-कथारसस्य॥
(श्रीमद्भा. १०/४७/५८)

"इस पृथ्वीपर केवल उन गोपियोंका ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ और सफल है, क्योंकि वे सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रेममय दिव्य महाभावमें स्थित हैं। संसारसे भयभीत बड़े-बड़े मुनि तथा हम भी इस भावकी वाञ्छा करते हैं। जिनको भगवान्‌की इस लीलाकथाके रसका चसका नहीं लगा है, उनके लिए ब्रह्माका जन्म भी व्यर्थ है।"

वृत्रासुर भी वैष्णव-आनुगत्य या वैष्णवसङ्ग प्राप्तिके लिए प्रार्थना करते हैं—

ममोत्तमःश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥
(श्रीमद्भा. ६/११/२७)

"प्रभो! मैं मुक्ति नहीं चाहता। मेरे कर्मोंके फलस्वरूप मुझे बारम्बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकना पड़े, इसकी परवाह नहीं। परन्तु मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, जिस-जिस योनिमें जन्म लूँ, वहाँ-वहाँ भगवान्‌के प्यारे भक्तजनोंसे मेरी प्रेम-मैत्री बनी रहे। स्वामिन्! मैं केवल यही चाहता हूँ कि जो लोग आपकी मायासे देह, गेह, पुत्र, परिवार आदिमें आसक्त हैं, उनका सङ्ग न हो।"

नवधाभक्तिका स्थान इतना उच्च होते हुए भी सत्यव्रत मुनिको इसकी वाञ्छा नहीं है। क्यों? इस समस्याका समाधान करते हुए श्रील सनातन गोस्वामिपाद कहते हैं—जैसा श्रवण होगा वैसा ही उसका फल होगा। नवधाभक्तिका आचरण दो प्रकारसे होता है—वैधीमार्गसे नवधा-भक्तिका पालन साधकको वैकुण्ठ तक ही पहुँचाएगा, रागमार्गसे की गई नवधाभक्ति वृन्दावनधाम तक पहुँचाकर श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवा प्राप्त कराती है।

सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि राग किसे कहते हैं? जब किसी व्यक्तिकी किसी विषयके प्रति रञ्जकता हो तो उसे राग कहते हैं। वही रञ्जकता श्रीकृष्णके प्रति हो अर्थात् श्रीकृष्ण ही उस रागके एकमात्र विषय हों तो उसे रागात्मिकाभक्ति कहते हैं। इस रागात्मिकाभक्तिका अनुसरण करनेको रागानुगाभक्ति कहते हैं। श्रीरूप गोस्वामिपादने इसकी परिभाषा इस प्रकारकी दी है—

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥
(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १/२/२७२)

"इष्ट वस्तुमें जो स्वाभाविकी परमाविष्टता होती है, उसे राग कहते हैं। कृष्णभक्ति जब इस रागमयी अवस्थाको प्राप्त हो जाती है, तब उस भक्तिको 'रागात्मिकभक्ति' कहते हैं।" संक्षेपमें श्रीकृष्णके प्रति प्रेममयी तृष्णा ही रागात्मिकाभक्ति है। व्रजवासियोंका श्रीकृष्णके प्रति प्रेममय भाव ही रागात्मिकाभक्तिका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इस रागात्मिकाभक्तिकी अनुगमनकारिणी भक्ति रागानुगाभक्ति है। वैधीमार्गकी

भक्ति विधि-सापेक्ष होनेके कारण दुर्बल होती है और रागानुगाभक्ति सम्पूर्ण निरपेक्षा होनेके कारण स्वभावतः प्रबल होती है।

श्रीकृष्णके सर्वश्रेष्ठ अनुरागी जन व्रजवासी ही हैं। अपने भावानुसार प्रियतम श्रीकृष्णके भक्तोंका स्मरण करता हुआ तथा अपने भावानुकूल श्रीकृष्णके व्रजलीला-सम्बन्धी नाम और लीलाकथाओंमें संलग्न होकर, भक्तमात्रको व्रजमण्डलमें ही निवास करना चाहिए। श्रीकृष्णके परिकर श्रीदाम, सुबल (सख्यरसके लिए), श्रीनन्द-यशोदा आदि (वात्सल्यरसके लिए) तथा शृंगाररसके लोभी भक्तको श्रीललिता-विशाखादिके अनुगत होकर अपने-अपने भावोंके अनुरूप कृष्णकथाओंमें निमग्न होकर व्रजमें निवास करना चाहिए। ऐसी भजन-प्रणालीका निर्देश श्रील रूप गोस्वामिपादने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें दिया है—

कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितं।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥
सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १/२/२९४-२९५)

श्रीकृष्ण और उनके प्रियजनोंका सदा स्मरणपूर्वक उन्हींकी कथाओंमें निरत होकर सर्वदा व्रजमें वास करना चाहिए। शरीरसे व्रजवास करनेमें असमर्थ होनेपर मन-ही-मन व्रजवास करना चाहिए। रागात्मिकाभक्तिके प्रति जिनको लोभ होता है, वे व्रजजनोंके भावोंके अनुसार साधक रूपसे बाहरमें और सिद्ध रूपसे अन्तरमें सेवा करेंगे।

यदि साधकको विकसित प्रेमदशा लाभकी लालसा है, तो उसे श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीका उपदेश ग्रहण करना चाहिए—

यदीच्छेरावासं व्रजभुवि सरागं प्रतिजनु
र्युवद्वन्दं तच्चेत् परिचरितुमारादभिलषेः।
स्वरूपं श्रीरूपं सगणमिह तस्याग्रजमपि
स्फुटं प्रेम्ना नित्यं स्मर नम तदा त्वं शृणु मनः॥

(मनःशिक्षा ३)

यदि रागके साथ व्रजमें निवास करना चाहते हो एवं जन्म-जन्मान्तरोंमें व्रजयुगलकी साक्षात् पारकीय परिचर्या करनेकी अभिलाषा रखते हो, तो श्रीस्वरूप गोस्वामी तथा गणके साथ श्रीरूप एवं श्रीसनातन गोस्वामीका स्पष्ट प्रेमके साथ नित्य स्मरण करो और उनको प्रीतिपूर्वक प्रणाम करो। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्रजभक्तिकी प्राप्ति व्रजजनोंके आनुगत्यमें ही सम्भव है—यही आचार्यपादोंका अभिमत है। व्रजभक्ति-अभिलाषीका कथा-श्रवण तथा कीर्त्तन भी उसके भावानुरूप ही होगा; यथा—"श्रीकृष्ण गोपाल हरे मुकुन्द, गोविन्द हे नन्दकिशोर कृष्ण, हा श्रीयशोदातनय प्रसीद श्रीवल्लवी-जीवन राधिकेश।" अतएव श्रवण, कीर्त्तन तो करना है, किन्तु वह रूपानुग वैष्णवोंके आनुगत्यमें व्रजलीला-सम्बन्धी श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलाका श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण हो। तभी व्रजके यशोदाके दुलाल बालगोपाल प्राप्त होंगे। वैधीभक्तिके द्वारा वे प्राप्त नहीं हो सकते, इसी वैधी नवधाभक्तिके फलको लेना सत्यव्रत मुनि अस्वीकार कर रहे हैं। बालगोपालकी मूर्त्ति यदि हृदयमें स्फुरित हो जाए, तो बाकी क्या रह जाता है? यदि वृन्दावन धाम प्राप्त हो गया, व्रजवासियोंका सङ्ग प्राप्त हो गया, तब श्रवण-कीर्त्तनका सबसे उत्तम फल सारे अभीष्ट अपने-आप प्राप्त हो जाएँगे।

श्रीहरिदास ठाकुर तीन लाख हरिनाम करते थे। स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुने उन्हें नामाचार्यकी उपाधि दी थी। श्रीलरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीदास गोस्वामी भी भजन करते थे, किन्तु कहीं भी यह नहीं लिखा है कि वे तीन लाख हरिनाम करते थे। श्रीहरिदास ठाकुर और गोस्वामिपादके नामजपमें कुछ वैशिष्ट्य है। श्रीवास पण्डित भक्तशिरोमणि हैं, महाप्रभुके परिकर हैं। रथयात्राके समय श्रीवास पण्डित लक्ष्मीजीकी महिमा वर्णन करने लगे, तब श्रीस्वरूपदामोदरने श्रीमतीराधाके प्रेमोत्कर्षका वर्णन किया। दोनोंकी महिमा वर्णनमें वैशिष्ट्य है। श्रीमन्महाप्रभुने प्रद्युम्नमिश्रको कृष्णकथा श्रवणके लिए श्रीरायरामानन्दके पास भेजा, हरिदास ठाकुरके पास नहीं। यद्यपि हरिदास ठाकुर उस समय पुरीमें ही विद्यमान थे। कारण यह है कि—हरिदास ठाकुर श्रीब्रह्मा और श्रीप्रह्लादके मिलित रूप थे,

वे शुद्धनाम भी करते थे; तब भी भावनाकी प्रधानता होती है। यह सब भावनापर निर्भर करता है। प्रह्लाद महाराज ज्ञानीभक्त हैं, इनकी स्थिति वैकुण्ठ तक है। इसलिए व्रजभक्तिके पिपासुजन हरिदास ठाकुरके भजनको नमनकर श्रील रूपगोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीका आनुगत्य करते हैं, जो व्रजभावमें विभावित होकर दिन-रात व्रजलीला रससमुद्रमें विप्रलम्भके साथ गोते लगाते रहते हैं।

कुछ प्राचीन भक्तोंके श्रीमुखसे सुना है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु बहिरङ्ग भक्तोंके साथ नामसंकीर्त्तन और अन्तरङ्ग भक्त स्वरूप दामोदर और राय रामानन्दके साथ व्रजप्रेमका आस्वादन करते थे—

बहिरङ्ग लइया करे नाम-संकीर्त्तन।
अन्तरङ्ग लइया करे प्रेमास्वादन।

इन्हीं परम रसिक व्रजवासी गोस्वामीवर्गके आनुगत्यमें भजन करना ही हमारा एकमात्र प्रयोजन है। श्रीमन्महाप्रभु व्रजरसका आस्वादन गम्भीरामें केवल श्रीस्वरूपदामोदर तथा श्रीरायरामानन्दके साथ करते थे। वे दोनों श्रीमन्महाप्रभुके अन्तरङ्ग भावोंके अनुरूप श्लोक और पदावली उच्चारण करते थे।

यथा—

अयि दीनदयार्द्रनाथ! हे मथुरानाथ! कदावलोक्यसे।
हृदयं त्वदलोककातरं दयित! भ्राम्यति किं करोम्यहम्॥
(पद्यावलीधृत-माधवेन्द्रपुरी वाक्य ३३४)

यथा—

हे देव! हे दयित! हे भुवनैक बन्धो!
हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणैकसिन्धो!
हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम!
हा हा कदानु भवितासि पदं दृशोर्मे॥
(श्रीकृष्णकर्णामृत ४०)

इन श्लोकोंका मर्म केवल श्रीरायरामानन्द तथा श्रीस्वरूपदामोदर ही समझते थे तथा महाप्रभुके तीव्र उत्कट विरहमें वे ही सान्त्वना देते थे।

भावनाओंके इसी वैशिष्ट्यका श्रीलसनातन गोस्वामिपाद अपनी टीकामें वर्णन कर रहे हैं। हमारे गोस्वामी वर्ग राधापक्षीय हैं। वे तभी प्रसन्न होते हैं, जब श्रीकृष्ण श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजीकी चिन्ता करते हैं तथा चिन्ता करते-करते श्यामसे गौर वर्ण हो जाते हैं—

राधा-चिन्ता-निवेशेन यस्य कान्तिर्विलोपिता।
श्रीकृष्णचरणं वन्दे राधालिङ्गित-विग्रहम्॥
(श्रीराधा-विनोदबिहारी-तत्त्वाष्टकम् १)

श्रीमतीराधाके मान करनेपर उनके विरहमें अतिशय निमग्न होनेसे जिनकी कृष्णवर्णरूप-कान्ति विलुप्त होकर श्रीमतीराधा जैसी हो गई थी, उन राधाके चिह्नों (कान्ति) से युक्त विग्रह श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ।

साधकको अपने गुरुको साधक स्वरूपमें एवं सिद्धस्वरूपमें प्रगाढ़ प्रीति सहित लौकिक सद्बन्धुवत् ममतायुक्त होकर अपने अभीष्ट प्रदाताके रूपमें स्वीकार करना चहिए। इसीके द्वारा ही रूपानुग भजनमें प्रवेश मिल सकता है अन्यथा नहीं। भजनशील साधकोंके लिए श्रीमन्महाप्रभुका आदेश है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥
(श्रीशिक्षाष्टक ३)

साधक सब प्रकारसे पद-दलित अत्यन्त तुच्छ, तृणसे भी अपनेको दीन-हीन समझकर, वृक्षसे भी अधिक सहनशील बनकर, स्वयं अमानी और दूसरोंको यथायोग्य मान देनेवाला बनकर सर्वदा निरन्तर हरिनाम-संकीर्त्तन करता रहे।

श्रीगौरहरि द्वारा उपदेशित इस प्रणालीका पालन स्वयं श्रीकृष्णने द्वारकामें अपनी लीलामें किया। वह उपाख्यान इस प्रकार है—

एकबार दुर्वासा ऋषि द्वारकामें पहुँचे। दुर्वासाका अर्थ है—जो केवल दूर्वा (घास) का रसपान करते हैं, वे ही दुर्वासा हैं। उस समय श्रीकृष्ण अपने महलमें बैठे थे। दुर्वासा ऋषिने आते ही कहा—मुझे बहुत भूख लगी है, तुम तुरन्त भोजनकी व्यवस्था करो। जब तक भोजन तैयार हुआ दुर्वासाजी चले गए, अर्द्धरात्रिके समय अचानक श्रीकृष्णके राजमहलमें पहुँचे और भोजन माँगने लगे। भोजन परोसा गया, दुर्वासा जीने थोड़ा-सा ही खाया और बोले—श्रीकृष्ण तुम इस जूठी खीरको अपने अङ्गोंमें लगा लो। श्रीकृष्णने चुपचाप उस जूठी खीरको अपने शरीरपर लगा लिया; केवल चरणोंके तल भागमें नहीं लगाया। द्वारिकावासी यह सब देख रहे थे और दुःखित हो रहे थे, किन्तु कुछ कह नहीं सके। इसके पश्चात् दुर्वासा ऋषिने कहा—मुझे रथमें घूमना है और रुक्मिणीजीको उस रथको खींचना पड़ेगा। श्रीकृष्णने इसकी भी व्यवस्था कर दी। दुर्वासा मुनिने श्रीकृष्णको सारथि बनाया। श्रीरुक्मिणिजी रथ खींचते-खींचते गिरकर मूर्छित होने लगीं। यह सब देखकर द्वारकावासी सहन नहीं कर पा रहे थे। इतनेमें ही दुर्वासाजी रथसे कूदकर भाग गए। श्रीकृष्ण उन्हें ढूढ़ते हुए पुकारने लगे। दुर्वासाजी पुनः प्रकट हो गए और बोले—हे द्वारकाधीश! आपके समान धैर्यवान सहिष्णु मैंने अन्य किसी भी देवताको नहीं देखा। आप ब्रह्मण्यदेव हैं। यह सब लीला मैंने त्रिजगतमें आपकी प्रतिष्ठा स्थापित करनेके लिए ही की है। हे श्रीकृष्ण! आपने मेरे कहनेसे अपने सर्वाङ्गमें मेरी जूठन खीरको मल लिया, किन्तु अपने पैरोंके तल भागमें नहीं लगाया। इसीलिए सारे अङ्ग वज्र जैसे हो गए हैं, किन्तु पैरके तलवे कमजोर रह गए। अतः वहाँपर चोट लगनेकी सम्भावना रह गई है। हे रुक्मिणीदेवी! मैं तुमसे भी बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारी पराभक्ति और सहिष्णुता देखकर आशीर्वाद देता हूँ कि तुम जगतकी समस्त पतिव्रताओंमें श्रेष्ठ होओगी, अखण्ड-सौभाग्यवती होओगी।

इस कथासे साधकोंको सहिष्णुता तथा धैर्यपरायणताकी शिक्षा मिलती है। व्यवहारमें तनिक भी भूल होनेपर वैष्णव अपराध हो जाता है और भक्ति सदाके लिए दूर भाग जाती है।

"सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः"—सत्यव्रत मुनि अन्य सब वरदानोंको छोड़कर श्रीकृष्णके बालगोपालस्वरूपकी ही हृदयमें स्फूर्त्तिकी प्रार्थना कर रहे हैं। हृदयमें श्रीदामोदरस्वरूप ही आविर्भूत रहे।

श्रीबृहद्भागवतामृतमें गोपकुमारकी भगवान्‌की साक्षात् दर्शनकी अभिलाषाके विषयमें पिप्पलायन ऋषिके विचार इस प्रकार हैं—

इदं महत्पदं हित्वा कथमन्यद् यियाससि।
कथं वा भ्रमसि द्रष्टुं दृग्भ्यां तं परमेश्वरं॥८६॥
समाधत्स्व मनः स्वीयं ततो द्रक्ष्यसि तं स्वतः।
सर्वत्र बहिरन्तश्च सदा साक्षादिव स्थितम्॥८७॥
परमात्मा वासुदेवः सच्चिदानन्द-विग्रहः।
नितान्तं शोधिते चित्ते स्फुरत्येष न चान्यतः॥८८॥
तदानीञ्च मनोवृत्त्यन्तराभावात् सुसिध्यति।
चेतसा खलु यत् साक्षाच्चक्षुषा दर्शनं हरेः॥८९॥
मनः सुखेऽन्तर्भवति सर्वेन्द्रियसुखं स्वतः।
तद्‌वृत्तिष्वपि वाक्-चक्षुः-श्रुत्यादीन्द्रियवृत्तयः॥९०॥
मनोवृत्तिं विना सर्वेन्द्रियाणां वृत्तयोऽफलाः।
कृतापीहाऽकृतैव स्यादात्मन्यनुपलब्धितः॥९१॥
कदाचिद् भक्तवात्सल्याद् याति चेद्दृश्यतां दृशोः।
ज्ञान-दृष्ट्यैव तज्जातमभिमानः परं दृशोः॥९२॥
तस्य कारुण्यशक्त्या वा दृश्योऽस्त्वपि बहिर्दृशोः।
तथापि दर्शनानन्दः स्वयोनौ जायते हृदि॥९३॥
अनन्तरञ्च तत्रैव विलसन् पर्यवस्यति।
मन एव महापात्रं तत्सुखग्रहणोचितम्॥९४॥
तत्प्रसादोदयाद्यावत् सुखं वर्द्धेत मानसम्।
तावद्वर्द्धितुमीशीत न चान्यद् बाह्यमिन्द्रियम्॥९५॥
अन्तर्ध्यानेन दृष्टोऽपि साक्षाद्-दृष्ट इव प्रभुः।
कृपाविशेषं तनुते प्रमाणं तत्र 'पद्मजः'॥९६॥

(श्रीबृहद्भागवतामृतम् २/२/८६-९६)

ऋषभदेवके पुत्र पिप्पलायन ऋषि कहने लगे—हे गोपकुमार! यह स्थान ऊर्ध्वरेता योगीन्द्रोंका है, इसे परित्यागकर तुम अन्यत्र क्यों जाना चाहते हो? परमेश्वर—अर्थात् नेत्रोंसे अगोचर प्रभुको अपने नेत्रोंसे देखनेके लिए क्यों इधर-उधर भ्रमण कर रहे हो?

अपने मनको समाहित करो, समाहित मनमें ही उनका दर्शन पा सकते हो। भगवान् तो अन्दर-बाहर सर्वत्र नित्यकाल विराजमान हैं। परमात्मा वासुदेव चित्तके अधिष्ठाता हैं। चित्तके निर्मल हो जानेपर शुद्धसत्त्व उदित होता है, ऐसे शुद्धसत्त्वयुक्त चित्तमें वासुदेवकी स्फूर्त्ति होती है। इन चर्मचक्षुओंके द्वारा उनका दर्शन असम्भव है। क्योंकि वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं। नेत्रों द्वारा श्रीभगवान्का दर्शन भी वास्तवमें चित्तसे ही होता है, क्योंकि उस अवस्थामें मनका उनमें ही सन्निवेश होता है, चक्षुदर्शन भी चित्त दर्शनमें अन्तर्भुक्त हो जाता है। कोई यदि कहे कि आँखोंके दर्शनमें सुख अधिक होता है, उसके लिए कहते हैं—सुख तो मनमें ही उदित होता है, नेत्रोंमें नहीं। समस्त सुख मनमें ही अन्तर्भुक्त है। वाक्, चक्षु, कर्णादि इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ निष्फल होती हैं। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं, यदि ऐसा कहा जाए, तो भी वे इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूपसे उन्हें ग्रहण करनेमें सक्षम नहीं हैं। मनोवृत्तिके अभावमें जीवात्मा उन सब विषयोंका अनुभव नहीं कर सकती।

चक्षु इन्द्रिय द्वारा भगवान्का दर्शन असम्भव है, क्योंकि वे प्राकृत इन्द्रियोंसे अगोचर हैं। भगवान्का आविर्भाव विशुद्धसत्त्वके चित्तमें ही होता है।

(इसपर गोपकुमार कहते हैं—"ध्रुव, प्रह्लादादि भक्तोंने नेत्रोंसे साक्षात् भगवत्-दर्शन किया था, वह किस प्रकार किया?") तदुत्तरमें ऋषि कहते हैं—श्रीभगवान्में भक्तवत्सलताका गुण है। इस गुणके द्वारा वे कभी-कभी किसीके नयनगोचर हो सकते हैं। अर्थात् वे नेत्रोंसे दर्शन देते ही नहीं, यह नियम या रीति नहीं है, परन्तु वह भी चित्त-वृत्ति रूप ज्ञान-दृष्टिके द्वारा ही होता है, चक्षु इन्द्रियों द्वारा नहीं। विशुद्धसत्त्व चित्तमें ही भगवत्-दर्शन होते हैं। चक्षु इन्द्रियों द्वारा दर्शन

केवल अभिमान है। इन्द्रियाँ परिच्छिन्नता-धर्मवशतः अपरिच्छिन्नता-धर्मयुक्त वस्तुको कभी ग्रहण नहीं कर सकतीं।

यदि कोई कहे, श्रीभगवान् अपनी करुणाशक्तिके द्वारा बाह्य चक्षुओंसे भी दर्शन दे सकते हैं। यह सर्वशक्तिमानके लिए असम्भव नहीं, किन्तु दर्शनका आनन्द हृदयमें ही प्रकाशित होता है, क्योंकि आनन्दकी उत्पत्ति हृदय या मनमें ही है। भगवान्का दर्शन जब मनमें होता है, तब दर्शनका आनन्द उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता है। अतएव भगवत्-दर्शनके सुखका एकमात्र योग्यस्थान या पात्र या अधिकारी मन ही है। चक्षु द्वारा भगवत्-दर्शनकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

यदि कोई कहे, बाह्य इन्द्रियोंकी भाँति मन भी परिच्छिन्न है, अतएव उसके द्वारा भी अपरिच्छिन्न भगवान्की मूर्त्तिका दर्शन करना असम्भव है। तो कहते हैं, मन परिच्छिन्न होनेपर भी जब वह निर्मल होता है अथवा भगवान्की कृपा होनेपर मनमें भगवत्-दर्शनका आनन्द जिस परिणाममें वर्द्धित होता है, उसी परिणाममें मन भी वर्द्धित होता है। मनके अतिरिक्त अन्य कोई इन्द्रिय वर्द्धित नहीं हो सकती, क्योंकि वे सभी बाह्य हैं। शुद्धचित्तकी सूक्ष्मरूपता होनेके कारण उसमें भगवत्-दर्शनकी योग्यता होती है। मन दृश्य वस्तु-विषयकी आकारता होनेपर ही उस विषयमें ज्ञान उदित होता है—यह प्रसिद्ध है। अन्यान्य इन्द्रियोंमें यह नहीं है, क्योंकि वे स्थूल और सीमाबद्ध हैं।

पूर्व पक्ष कहता है—आँखोंसे दर्शनकी अपेक्षा मनका दर्शन श्रेष्ठ है। यदि यह स्वीकार करें तो भी श्रीभगवान्से वर प्रार्थनादि वार्त्तालापका परमसुख तो नेत्रोंके दर्शनके समय ही होता है। उत्तरमें कहते हैं—ध्यानके द्वारा अन्तरमें अर्थात् हृदयमें दर्शन साक्षात् दर्शनकी भाँति ही होता है; सर्वशक्तिमान प्रभु भी अपने ज्ञानी भक्तोंसे सन्तुष्ट होकर उन्हें वर प्रदान करते हैं। इसका प्रमाण स्वयं ब्रह्माजी हैं। ब्रह्मा प्रजा सृष्टिके लिए भगवान्के ध्यानमें निमग्न थे, उन्हें समाधिमें भगवान्के दर्शन हुए। भगवान्ने कहा—मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत प्रसन्न

हूँ। कुछ वरदान माँगो। ब्रह्माजीने वर प्रार्थना की। भगवान्ने उन्हें चतुःश्लोकी भागवतकी शिक्षा दी। भगवान्ने समाधिमें ही वर और दर्शन दिया। इससे भगवान्की करुणा प्रकट होती है॥४॥

इति श्रीदामोदराष्टकके चतुर्थ श्लोककी दिग्दर्शिनी-वृत्ति समाप्त।

पञ्चमः श्लोकः

इदन्ते मुखाम्भोजमव्यक्त*-नीलै-
र्वृतं कुन्तलैः स्निग्ध-रक्तैश्च गोप्या।
मुहुश्चुम्बितं बिम्ब-रक्ताधरं मे
मनस्याविरास्तामलं लक्षलाभैः ॥५ ॥

अन्वय—[तत्र च] [और आपकी मूर्त्तिमें भी] ते (आपका); इदं (यह); मुखाम्भोजं (मुखकमल); यत् (जो); अव्यक्त-नीलैः (अत्यन्त नील अर्थात् परम श्यामल); स्निग्ध-रक्तैः (कोमल लाल रङ्गके); च कुन्तलैः (घुँघराले बालोंसे); वृतं (ढका हुआ है); गोप्या (श्रीयशोदा द्वारा); मुहुः (बारम्बार); चुम्बितं (चुम्बित है); बिम्ब-रक्ताधरं (जहाँ बिम्बफलकी भाँति रक्तिम अधर है); मे (मेरे); मनसि (हृदयमें अर्थात् विशुद्धसत्त्व चित्तमें); आविरास्तां (प्रकट हो); लक्ष-लाभैः (दूसरे लाखों वरोंकी प्राप्तिसे); अलं (मेरा प्रयोजन नहीं है) ॥५ ॥

श्लोकानुवाद—हे देव! अत्यन्त श्यामलवर्ण और कुछ लालिमा लिये हुए चिकने और घुँघराले बालोंसे आच्छादित तथा माँ यशोदाके द्वारा बारम्बार चुम्बित आपका मुखकमल, जहाँ पके हुए बिम्बफलकी भाँति अरुण मनोहर अधर-पल्लव हैं, मेरे हृदयमें सर्वदा विराजमान रहें। मुझे लाखों प्रकारके दूसरे लाभोंकी अर्थात् वरोंकी आवश्यकता नहीं है ॥५ ॥

दिग्दर्शिनी-टीका—तत्र च तव श्रीमुखं परममनोहरं विशेषेण दिदृक्षे, इत्याह—इदमिति। कदाचिद्ध्यानेऽनुभूयमानमनिर्वचनीय-सौन्दर्यादिकं, तदेव निर्दिशति—

---

* सभी उपलब्ध संस्करणोंमें श्रीलसनातन गोस्वामीकी टीकामें 'अव्यक्त' पाठके स्थानपर 'अत्यन्त' पाठ प्राप्त होता है। अतएव 'अत्यन्त' ही श्रीसनातन

(*अगले पृष्ठपर*)

मुखमेवाम्भोजं प्रफुल्लकमलाकरत्व-निखिलसन्तापहारित्व-परमानन्दरसवत्त्वादिना, तन्मे मनसि मुहुराविरास्ताम्।

कथम्भूतम्? [अव्यक्तैः] अत्यन्तनीलैः★ परमश्यामलैः, स्निग्धैश्च रक्तैश्च कुन्तलैः केशैरलकैर्वा वृतं कमलं भ्रमरैरिवोपरिवेष्टितम्। गोप्या श्रीयशोदया, श्रीराधया वा चुम्बितं, मुहुरित्यस्यात्रापि सम्बन्धः, यथापाठक्रममत्रैव सम्बन्धः; ततश्च तया महाधन्यया मुहुश्चुम्बितमपि मम मनसि सकृदप्याविरास्तामित्यर्थः।

यद्वा, सदेति पूर्वगतस्यात्राप्यर्थबलादन्वय एव स्यात्।

बिम्बवद्रक्तौ अधरौ यस्मिन् तत्, ततश्च लक्षलाभैः अन्यैर्लक्ष-संख्यैर्लब्धैरपि [अलं] प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः। लिखितार्थमेवैतत्॥५॥

इति श्रीदामोदराष्टके पञ्चमश्लोके श्रीलसनातन गोस्वामिकृता दिग्दर्शिनी-नाम्नी टीका समाप्ता।

दिग्दर्शिनी-टीकाका भावानुवाद—आपकी श्रीमूर्त्तिमें भी आपके परम-मनोहर श्रीमुखको विशेष रूपसे देखनेकी इच्छा करता हूँ। कदाचित् ध्यानमें अनुभूयमान अनिर्वचनीय सौन्दर्यादिका ही इस श्लोकमें निर्देश कर रहे हैं।

प्रफुल्ल कमलकी आकरता, निखिलसन्तापहारिता, परमानन्दरसवत्ता आदि गुणोंके कारण आपका मुख ही कमल जैसा है और वह मेरे मनमें बारम्बार आविर्भूत हो। वह मुखकमल और कैसा है, इसके उत्तरमें कह रहे हैं—वह परम श्यामल, स्निग्ध और आकर्षक केश अथवा अलकोंसे घिरा हुआ है, मानो वह उपरिवेष्टित भ्रमरोंसे युक्त कमल हो। वह गोपी यशोदा अथवा राधाके द्वारा बारम्बार (मुहुः पदका यहाँ भी सम्बन्ध है) चुम्बित हो रहा है। पाठक्रमके अनुसार केवल यहींपर 'मुहुः' पदका सम्बन्ध माननेसे अर्थ इस प्रकार होगा—उन महाधन्या यशोदा या राधा द्वारा बारम्बार चुम्बित मुखकमल एक बार भी मेरे मनमें आविर्भूत होवे। अथवा, पूर्व श्लोकके 'सदा' पदका यहाँ अर्थबलात् अन्वय होनेपर अर्थ होगा—

गोस्वामीका सम्मत पाठ प्रतीत होता है। परन्तु सभी उपलब्ध संस्करणोंमें मूलमें 'अव्यक्त' पाठ ही है। इसलिए हमने भी मूल श्लोकमें 'अव्यक्त' शब्दको ही ग्रहण किया है।

उनके द्वारा बारम्बार चुम्बित वह मुखकमल सदा मेरे मनमें आविर्भूत होवे। मुखकमलका ही दूसरा विशेषण कह रहे हैं—'बिम्बरक्ताधरं' अर्थात् जिसमें बिम्बके समान लाल दो होठ हैं। इसलिए अन्य लाखों वरोंकी प्राप्तिसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। इसकी व्याख्या पूर्वश्लोककी टीकामें ही हो गई है॥५॥

इति श्रीदामोदराष्टकके पञ्चम श्लोककी श्रीलसनातन गोस्वामीकृत दिग्दर्शिनी-नामक टीकाका भावानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी-वृत्ति—सत्यव्रत मुनिकी भावनासे अवगत होकर मानो श्रीभगवान् प्रसन्न होकर कहते हैं—मुनि! मैं प्रसन्न हूँ, कोई वर माँगो। श्रीभगवान्की बात सुनकर मुनिने कहा—प्रभो! आप वर दाताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, आप अनन्त वर दे सकते हैं। किन्तु उन सब वरोंसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं। "इदन्ते"—ध्यानयोगसे अपने हृदयमें स्फूर्त्ति-प्राप्त भगवान्के बालगोपाल रूपके जिस मुखकमलके अनिर्वचनीय सौन्दर्यका अनुभव किया है, उसीको कह रहे हैं—मैं आपके बालगोपाल रूपका दर्शन करना चाहता हूँ। वह बालगोपाल रूप कैसा है? इसपर कहते हैं—'अव्यक्त' अर्थात् जो प्राकृत मन वाणीसे अगोचर है, 'आवृतं'—काले-काले घुँघराले केशोंके द्वारा मुख आवृत है। अर्थात् आपका मुखकमल काले-काले, स्निग्ध, लोहिताभ, कुटिलकेशरूपी भ्रमरोंसे आच्छादित है। उस मुखकमलको मैया यशोदा और गोपियाँ बारम्बार चुम्बन करती हैं। उनकी इस प्रार्थनासे यह सूचित होता है कि उन सत्यव्रत मुनिकी और भी लालसा बढ़ रही है। पहले श्लोकमें अपनी आँखोंसे दर्शन करना चाहते हैं। किन्तु अब श्रीकृष्णके मुखको चुम्बन करनेकी लालसा हो रही है। अर्थात् क्या मेरी यह दुर्लभ आशा पूर्ण होगी? भजनके प्रभावसे प्रारम्भमें कृष्णसेवाकी वृत्ति हृदयमें आती है। भजनसे धीरे-धीरे अनर्थ दूर होनेपर निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव, प्रेम एवं सेवाकी वृत्ति बढ़ती जाएगी।

परन्तु यहाँ एक सिद्धान्त है कि जिसका स्वरूपानुबन्धी-भाव दास तक होगा, वह दासाधिकार तक रुक जाएगा। आगे नहीं बढ़ेगा। अतः सत्यव्रत मुनिकी प्रार्थनासे ज्ञात होता है कि वह दास्यरसके भक्त नहीं

हैं। वे तो और उन्नत भक्त हैं। तभी तो अपनी बढ़ती हुई लालसाको व्यक्त कर रहे हैं। जैसे गोपकुमारकी इच्छा वैकुण्ठ आदिमें भी कहीं तृप्त नहीं हुई। गोलोक वृन्दावनमें सख्यभाव तक पहुँचनेपर ही इच्छा पूर्ण हुई, उससे आगे नहीं बढ़े। वैसे ही सत्यव्रत मुनिकी लालसा, भक्तिक्रमसे आगे बढ़ती जा रही है। सनातन गोस्वामी बतला रहे हैं—"गोप्या" अर्थात् यशोदा मैया अथवा श्रीराधाजी जिस मुखकमलका बारम्बार चुम्बन करती हैं—दोनों ही हो सकता है। साधक अपने सम्बन्ध एवं अधिकारके अनुसार उस लीलाका रसास्वादन करेगा। श्रीकृष्णके ओष्ठकी तुलना बिम्ब फलसे की गई है। बिम्ब फल पकनेपर कोमल, स्निग्ध, सौन्दर्ययुक्त होता है, किन्तु श्रीकृष्णके ओष्ठ बिम्ब फलसे भी अधिक स्निग्ध, सौन्दर्ययुक्त हैं। श्रीलसनातन गोस्वामी और एक अर्थ बतला रहे हैं कि श्रीकृष्णके ओष्ठ इतने सुन्दर होनेपर भी वे दूसरोंका अधरपान करनेके लिए ललचाते हैं। बताओ तो सही जिनके अधरपानके लिए ललचाते हैं, उनके अधर कैसे होंगे? श्रीकृष्ण गोपियोंके अधरका पान करते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण श्रीमद्भागवतके उद्धव-संदेशमें हैं—"सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा" (१०/४७/१३) अर्थात् गोपियाँ विरहमें कहती हैं—अरी सखी! उन्हें भावी जीवनका पता था कि मैं इन व्रजबालाओंको छोड़कर मथुरा और अन्यत्र जाऊँगा। ये मेरे विरहमें मर जाएँगी। हमारा विरहमें तड़पना ही उनको अच्छा लगता है। इसलिए बलपूर्वक एकबार क्षणिक समयके लिए अधरामृत पान कराया, जिससे हम विरहमें न मर जाएँ केवल छटपटावें। अमृत पान करनेवाला व्यक्ति मरता नहीं है, इस उद्देश्यसे अपना अधरामृत पान कराया। श्रीकृष्णके नेत्र, भ्रू, हँसी, ओष्ठ ये सब पुष्पबाण हैं। अर्थात् एकबार जो श्रीकृष्णके इन अङ्गोंका दर्शन कर लेता है, वह सदाके लिए घायल हो जाता है। रागानुगा या रूपानुगाभक्त इन सब भावोंको साधनकालमें स्मरण कर देह-गेहकी सुध भूल जाता है।

यदनुचरितलीला-कर्णपीयूष-विप्रुट्
सकृददन-विधूत-द्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।

सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥
(श्रीमद्भा. १०/४७/१८)

श्रीवृषभानुनन्दिनी विरह-ज्वालामें तड़पती हुई अपनी सखीसे रोषपूर्वक, आक्षेपसे कह रही हैं—अरी सखि! यदि एकबार भी किसीके कानोंमें उनका चरित या अमृतभरी लीलाकथा पड़ जाए तो उसका क्या हाल होता है? "विनष्टाः द्वन्द्वधर्मा" अर्थात् जितने भी संसारके द्वन्द्वधर्म हैं, वे सब नष्ट हो जाते हैं, पक्षियों अथवा भिक्षुओंकी भाँति उनका जीवन हो जाता है। इस पर सखी पूछती है—अरी सखि! जो तुम बतला रही हो, उसका कहीं अन्यत्र उदाहरण है? उसपर राधाजी कहती हैं—अन्यत्र देखनेकी आवश्यकता नहीं, हम ही तो इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनकी लीलाकथाका श्रवण करनेसे हम बेघर-बारकी हो गई हैं।

और उनकी कैसी दशा हो जाती है? श्रीमद्भागवतमें वर्णन करते हैं—

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्त्या जतानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(श्रीमद्भा. ११/२/४०)

प्रेम लक्षणा भक्ति योगसे भगवत्-सेवाव्रतधारी साधुपुरुषोंके हृदयमें अपने एकान्त प्रियतम श्रीभगवान्‌के नामसंकीर्त्तनसे अनुराग एवं प्रेमका अंकुर उग आता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है। लोक लज्जा छोड़कर कभी हँसने लगता है, तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगता है, तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है एवं कभी उनको रिझानेके लिए नृत्य भी करने लगता है।

बाँसकी सूखी वंशी भी श्रीकृष्णके अधरामृत-स्पर्शसे त्रिजगतको पागल बना देती है। यह उनके अधरामृतकी ही करामात है। गोपियोंका वंशीके साथ सौतिया भाव है।

इन सद्भावनाओंको पानेके लिए अपने श्रीरूप-रघुनाथ आदि गुरु-वर्ग द्वारा की हुई प्रार्थना—स्तव-स्तुति करनेसे वह शक्ति हृदयमें सञ्चरित होगी। तब क्रमशः धीरे-धीरे भक्तिपथपर अग्रसर होते जाएँगे। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

राधे! जय जय माधव-दयिते।
दामोदर-रतिवर्द्धन-वेशे ।
हरि निष्कुट-वृन्दाविपिनेशे॥
करुणां कुरु मयि करुणा-भरिते।
सनक-सनातन-वर्णित-चरिते ॥

(श्रील रूपगोस्वामी)

अर्थात् हे माधवप्रिये! हे श्रीकृष्णकी रतिवर्द्धन-वेशधारिणि! हे नन्दनन्दनके गृहोद्यानरूप वृन्दावनकी अधीश्वरि! हे कृपापूर्णे! हे सनक-सनातन द्वारा वर्णित चरितोंवाली! श्रीराधे! तुम्हारी जय हो, जय हो! तुम मेरे प्रति करुणा करो।

हा देवि! काकुभर-गद्गदयाद्य वाचा
याचे निपत्य भुवि दण्डवदुद्भटार्त्तिः।
अस्य प्रसादमबुधस्य जनस्य कृत्वा
गान्धर्विके! निजगणे गणनां विधेहि॥

(श्रीगान्धर्वा-संप्रार्थनाष्टकम् २)

अर्थात् हे देवि गान्धर्विके! मैं विशिष्ट पीड़ासे युक्त हूँ। अतः आज भूमिपर दण्डके समान गिरकर, कातरतासे भरी हुई गद्‌गद वाणीसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझ अज्ञानी जनपर कृपा करके अपने परिकरोंमें मेरी भी गिनती कर लीजिए।

प्रार्थना करते समय यह ध्यान करना चाहिए कि यह प्रार्थना हमारे आचार्य वर्ग कर रहे हैं। हम तो इन प्रार्थनाओंके लिए सदैव अयोग्य हैं। हमारे गुरुवर्ग कर रहे हैं, इनकी कृपासे ही व्रजसेवा प्राप्त हो सकती है।

मैया अपने लालाके अङ्गोंमें खरोंचके चिह्न देखकर कहती हैं—अरे! यह सब खरोंचके चिह्न कहाँसे आए? यह सुनकर पासमें खड़ी कुन्दलताजी कहती हैं कि आपका लाला रात्रिमें रासक्रीड़ा करता है, उस समयके ये चिह्न हैं। रासलीला तो मधुररसकी प्रधान लीला है, मैया रासक्रीड़ाको कैसे जानती? इसपर कहते हैं—नहीं, स्वाभाविक रूपसे मैया पूछ रही हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैया राससे अपरिचित है; वात्सल्यरस भी मधुररसमें सहायक है, मधुररसको पुष्ट करता है। मैयाने कहा कि मेरा लाला अभी दूध पीता है, उसकी दाँतुलियाँ भी नहीं आई हैं। वह बोलना तो जानता नहीं, तोतली बोली बोलता है और तू कहती है कि रात्रिमें रासक्रीड़ा करता है। अरी वधु! तू जानती नहीं, मैं बतलाती हूँ इसके ये चिह्न कहाँसे आए। जब वह गोचारणके लिए वनमें जाता है, तब बच्चोंके साथ खेलनेमें इतना मग्न हो जाता है कि मुझे खरोंच कहाँ लगी है इसका भी उसे होश नहीं रहता। अतः इसके खेलके निशान हैं।

मैया और लाला दोनोंमें कौन शक्तिशाली है? मैया ही शक्तिशाली हैं। ऐसा क्यों कह रहे हैं? जो भक्त इसे सुने, उसके मनमें ऐसी लालसा उठती है कि मैं भी मैयाके आनुगत्यमें उसके लालाका मुखचुम्बन कर सकूँ। सबसे अधिक श्रीकृष्णके मुखकमलको कौन चुम्बन करता है? उत्तरमें कहते हैं—सबसे अधिक श्रीराधाजी ही श्रीकृष्णके मुखकमलका पान करती हैं। जो जिस रसका भक्त होता है, उसे उसी रसके प्रति लोभ होता है। रागात्मिकजनोंमेंसे कोई एकको जो अपने भावानुसार उन्हींके आनुगत्यमें ही रहकर श्रीकृष्णकी सेवा करके यह वृत्ति उत्पन्न करानेके लिए साधन-भजन करता है, उसके लिए श्रीसनातन गोस्वामी सत्यव्रत मुनिका प्रमाण देकर व्यवस्था दे रहे हैं।

भक्त भी मन-ही-मन सोच रहा है—यदि कुण्डल स्वर्ण होकर भी श्रीकृष्णके कपोलोंका चुम्बन कर रहा है, तो हम क्यों नहीं कर पाएँगे? अर्थात् मैं भी अवश्य कर पाऊँगा। इसी लोभसे वह साधक प्रयास करता है। इसी प्रयासको अभिधेय कहते हैं। जब अपनी

सेवा-वृत्तिको प्राप्त कर लेता है, तब उसे प्रयोजन कहते हैं। इसे छोड़कर हमें और किसी और वरकी आवश्यकता नहीं है। ऐसे बालगोपालकी स्फूर्त्ति हमारे मनमें सदैव उदित रहे। यहाँपर सत्यव्रत मुनि दास्यरससे प्रार्थना प्रारम्भकर अब वात्सल्यरसमें प्रवेश प्राप्त करनेके लोभसे प्रार्थना कर रहे है। इसलिए वे ऐसा वर्णन कर रहे हैं। ठीक उसी प्रकार भक्त भी प्रारम्भमें अपनेको कृष्णदास समझता है। किन्तु जैसे-जैसे विश्रम्भसेवा और प्रभुकृपासे आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे, धीरे-धीरे उसके हृदयमें आनुगत्यमयी सेवा प्रकाशित होने लगती है। गुरुजीका एक विशेष लक्षण होता है—अन्तर्यामित्व। वे हमारी आत्माके स्वरूपको जानते हैं। उसे देखकर ही हमारा वैसा सम्बन्ध जोड़ते हैं। तत्पश्चात्, श्रवण, कीर्त्तन, स्मरणरूपी जल देकर उस सम्बन्धको पुष्ट करते हैं। पुष्ट होनेमें जो बाधाएँ आती हैं, उन्हें अपनी वाणीरूप कुठारसे ऐसे सुन्दर तरीकेसे छेदन करते हैं कि साधकको पता भी नहीं चलता और कार्य भी सिद्ध हो जाता है, यही शुद्ध गुरु-वैष्णवोंका कार्य होता है। गुरु-वैष्णव साधारण या हम जैसे हाड़-मांसके परिवर्तनशील एवं क्षणभंगुर शरीरवाले नहीं होते; वे तो कलियुगपावनावतारी श्रीचैतन्य महाप्रभुके परिकर एवं श्रीराधाकृष्ण युगलके गणोंमेंसे एक होते हैं। हमारे जैसे मायाबद्ध जीवोंपर कृपा करनेके लिए प्रभु अपने परिकरोंको वैष्णवोंके रूपमें भेजते हैं।

उपासना दो प्रकारकी होती है—मन्त्रमयी उपासना और स्वारसिकी उपासना। (१) मन्त्रमयी उपासना—भजनके समय सर्वदा एक ही लीलाका स्मरण करते रहना। (२) स्वारसिकी उपासना—अर्थात् मालाकी भाँति एकके बाद एक लीला हृदयमें चलती रहती है, उसे स्वारसिकी उपासना कहते हैं। व्रजमें मन्त्रमयी उपासना नहीं, स्वारसिकी उपासना है। साधक व्रजके किसी भी कोनेमें जाएगा, सभी जगह श्रीकृष्णकी नई-नई लीलाओंका स्फुरण होता है। श्रीकृष्णने यहाँ यह लीला की, वहाँ वह लीला की। अपने आप शृंखलाकी भाँति लीला हृदयमें विलोड़ित होती हैं। अतः स्वारसिकी उपासनाको ही रागानुगा या लोभमयी भक्ति कहते हैं। हमारे गोस्वामी वर्ग उसी

स्वारसिकी लीलामें प्रतिष्ठित हैं। क्या वात्सल्यरससे बढ़कर और कुछ नहीं है? इसका तात्पर्य यह है कि वे गोपीभाव चाहते हैं। "लक्षलाभैः"—मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मुझे जो चाहिए प्रार्थना करूँगा। तब श्रीमती स्वामिनीजीके परिकरमेंसे कोई मिल जाए तो उसका सङ्ग पाकर श्रीकृष्णसे माँगेगा—हे कृष्ण! यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं और देना ही चाहते हैं तो यही दीजिए—

श्यामसुन्दर शिखण्डशेखर स्मेरहास मुरलीमनोहर।
राधिकारसिक मां' कृपानिधे स्वप्रियाचरणकिङ्करीम् कुरु॥

(श्रीविठ्ठलाचार्य)

वास्तवमें जब श्रीकृष्ण सचमुच ही प्रसन्न होते हैं तब अपने साधकों और साधिकाओंको यही वर देकर अपनेको कृतार्थ समझते हैं। यही भजनका क्रम एवं विकास है। अन्तमें यही वर दीजिए॥५॥

इति श्रीदामोदराष्टकके पञ्चम श्लोककी दिग्दर्शिनी-वृत्ति समाप्त।

षष्ठः श्लोकः

नमो देव! दामोदरानन्त! विष्णो!
प्रसीद प्रभो! दुःख-जालाब्धि-मग्नम्।
कृपादृष्टि-वृष्ट्यातिदीनं बतानु-
गृहाणेश! मामज्ञमेध्यक्षि-दृश्यः ॥६ ॥

अन्वय—देव! (हे दिव्यरूप!); तुभ्यं (आपको) नमः (मैं प्रणाम करता हूँ); प्रभो! (हे मेरे ईश्वर); दामोदर! अनन्त! (हे अचिन्त्य महाशक्तिसे युक्त); विष्णो! ईश! प्रसीद (प्रसन्न होइए); दुःख-जालाब्धि-मग्नं (सांसारिक दुःखसमूहरूप समुद्रमें डूबे हुए); अतिदीनं (परम आर्त्त या जीवित अवस्थामें ही मृत); अज्ञं (उसके प्रतिकारमें अनजान); मां (मुझे) बत (हाय); कृपा-दृष्टि-वृष्ट्या (कृपादृष्टिरूप अमृतमय वर्षा द्वारा); अनुगृहाण (सम्यक् रूपसे उद्धारकर जीवित कीजिए); अक्षि-दृश्यः (मेरे नेत्रोंके दर्शन योग्य); एधि (होइए) ॥६ ॥

श्लोकानुवाद—हे देव! (दिव्यरूपवाले) हे (भक्तवत्सल) दामोदर! हे (अचिन्त्य-महा-शक्तियुक्त) अनन्त! हे (सर्वव्यापक) विष्णो! हे (मेरे ईश्वर) प्रभो! हे (परम स्वतन्त्र) ईश! मुझपर प्रसन्न होवें। मैं संसार-दुःखसमूहरूप समुद्रमें डूबा जा रहा हूँ। अतएव आप अपनी कृपादृष्टिरूप अमृतकी वर्षाकर मुझ अत्यन्त दीन-हीन अज्ञ, शरणागत जनपर अनुग्रह कीजिए एवं मुझे साक्षात् रूपसे दर्शन दीजिए ॥६ ॥

दिग्दर्शिनी-टीका—एवं स्तुति-प्रभावात् सद्यः समुदितेन प्रेम-विशेषेण साक्षाद्दिदृक्षमानस्तत्र चैकं नाम-सङ्कीर्त्तनमेव परमसाधनं मन्यमानस्तथैव सकातर्यं प्रार्थयते—नम इति। तुभ्यमित्यध्याहार्यमेव, तच्च भयगौरवादिना प्रेमवैकल्येन वा साक्षान्न प्रयुक्तम्।

हे प्रभो! हे मदीश्वर! प्रसीद। प्रसादमेवाह—दुःखं सांसारिकं त्वददर्शनजं वा, तस्य जालं परम्परा, तदेवाब्धिः आनन्त्यादिना, तस्मिन्मग्नं मां, अतएव

अतिदीनं परमार्त्तं, यद्वा, तत्र सत्सहाय-साधनादिहीनत्वात् परमाकिञ्चनं, यद्वा, मुमूर्षुं जीवन्मृतं वा, तत्र चाज्ञं तत्-प्रतिकाराद्यनभिज्ञम्।

कृपया दृष्टिर्निरीक्षणं, तस्या वृष्ट्या परम्परया कृपादृष्टिरूपामृत-वृष्ट्या वा, अनुगृहाण समुद्धृत्य जीवयेत्यर्थः। तदेवाभिव्यञ्जयति—अक्षिदृश्यो मल्लोचनगोचरः, एधि भव।

एवं प्रार्थनाक्रमेण प्रार्थनं कृतं, प्रार्थ्यस्य परम-दौर्लभ्येन सहसा प्रागेव निर्द्देशानर्हत्वात्। अन्तर्दर्शनात् साक्षाद्दर्शन-माहात्म्यञ्च श्रीभगवत्पार्षदैः सन्यायमुक्तं श्रीभागवतामृतोत्तर-खण्डतो [३/१७९-१८२] विशेषतो ज्ञेयम्॥

तत्र देव! हे दिव्यरूपेति दिदृक्षायां हेतुः। दामोदरेति भक्तवात्सल्य-विशेषेणाक्षिदर्शनयोग्यतायाम्। अतो नान्तो यस्मादित्यनन्तेति कृपा-दृष्ट्यनुग्रहणे। प्रभो! हे अचिन्त्यानन्ताद्भुत-महाशक्तियुक्तेति, इन्द्रियाग्राह्यस्याप्यक्षि-दृश्यता-सम्भावनयाम्। ईश! हे परम-स्वतन्त्रेति, अयोग्यं प्रति तादृशानुग्रहकरणे कस्यचिदनपेक्षतायां ज्ञेयः। किञ्च, विष्णो! हे सर्वव्यापक! यद्वा, हे वृन्दावन-निकुञ्जकुहरादि-प्रवेशशील! इति चाक्षिदृश्यतार्थं दूरागमनश्रमादिकं नास्तीति।

अथवा, हे अनन्त! अपरिच्छिन्न! विष्णो! सर्वव्यापिन्! तथापि हे दामोदरेत्येवं परमवात्सल्य-विशेषेण तवाकृतं किमपि नास्तीति ध्वनितम्। अन्यत् समानमित्येषा दिक्॥६॥

इति श्रीदामोदराष्टके षष्ठश्लोके श्रीलसनातन गोस्वामिकृता
दिग्दर्शिनी-नाम्नी टीका समाप्ता।

दिग्दर्शिनी-टीकाका भावानुवाद—इस प्रकार स्तुतिके प्रभावसे सद्यः उत्पन्न प्रेमविशेषके कारण साक्षात् दर्शनकी इच्छा करनेवाले सत्यव्रत मुनि दर्शनके विषयमें नामसंकीर्त्तनको ही परम साधन मानते हुए कातरतापूर्वक दर्शनकी प्रार्थना कर रहे हैं—नमः इत्यादि। इस श्लोकमें 'तुभ्यं' पदका अध्याहार (अन्य स्थानसे उस शब्दका आकर्षण) करना चाहिए, क्योंकि भय-गौरवादिके कारण अथवा प्रेमविकलताके कारण यहाँ इसका साक्षात् प्रयोग नहीं हुआ है।

हे प्रभो! हे मेरे ईश्वर! प्रसन्न होवें। उस प्रसादका वर्णन कर रहे हैं—मैं सांसारिक अथवा आपके अदर्शनसे उत्पन्न दुःखकी परम्परारूपी अबिधमें निमग्न हूँ, अतएव अतिहीन अर्थात् परमार्त्त अथवा

सत्सहायरूप साधनादिसे रहित परम अकिञ्चन अथवा जीवन्मृत, उसपर भी अज्ञ अर्थात् उसके प्रतिकारादिके विषयमें अनभिज्ञ मुझे कृपापूर्वक निरीक्षणकी परम्परा द्वारा अथवा कृपादृष्टिरूप अमृतकी वर्षा द्वारा उस दुःख समुद्रसे उद्धारकर जीवित करें। इसी प्रसादको और भी अभिव्यञ्जित कर रहे हैं—आप मेरे नेत्रोंके गोचर हो जाए।

इस प्रकार प्रार्थनाके क्रमसे याचनाकी गई, क्योंकि प्राथ्र्य वस्तुकी परम दुर्लभताके कारण सहसा प्रारम्भमें ही उसका निर्देश अनुचित है। अन्तर्दर्शनसे साक्षात् दर्शनकी महिमा श्रीभगवत्पार्षदों द्वारा तर्क सहित कही गई है, जिसे श्रीभागवमतामृतके उत्तरखण्डसे विशेषरूपमें जान लेना चाहिए।

अब विभिन्न प्रकारके सम्बोधनोंमें जो हेतु है, उसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है। हे देव! अर्थात् हे दिव्यरूप—यह देखनेकी इच्छाके विषयमें हेतु है। दामोदर—यह भक्तवात्सल्यविशेषके द्वारा आँखों द्वारा दर्शनयोग्यताके विषयमें हेतु है। अनन्त (नान्तो यस्मात्)—यह कृपादृष्टिरूप अनुग्रहके विषयमें हेतु है। प्रभो! अर्थात् हे अचिन्त्य-अनन्त-अद्भुत-महाशक्तियुक्त—यह इन्द्रिय द्वारा अग्राह्य वस्तुकी भी आँख द्वारा देखे जानेकी सम्भावनाके विषयमें हेतु है। ईश अर्थात् हे परम स्वतन्त्र—यह अयोग्यके प्रति भी वैसा अनुग्रह करनेमें किसीकी अपेक्षा न रखनेके विषयमें हेतु है। और भी, विष्णो अर्थात् हे सर्वव्यापक अथवा हे वृन्दावनके निकुञ्जगह्वरादिमें प्रवेशशील—यह भी आँखोंसे दृश्य होनेमें दूरसे आगमनमें जो श्रम होता है, वह भी आपमें नहीं है, इस विषयमें हेतु है।

इन सम्बोधनोंकी अन्य प्रकारकी योजना भी कर रहे हैं—अथवा, हे अनन्त अर्थात् अपरिच्छिन्न, हे विष्णो अर्थात् सर्वव्यापिन्, तथापि हे दामोदर! इस प्रकार परम वात्सल्य विशेषके द्वारा आपके लिए अकृत कुछ भी नहीं है, यह अर्थ ध्वनित होता है। अन्य सम्बोधन पूर्वोक्त अर्थवाले ही हैं॥६॥

इति श्रीदामोदराष्टके छठे श्लोकको श्रीलसनातन-गोस्वामिकृत दिग्दर्शिनी-नामक टीकाका भावानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी–वृत्ति—यहाँपर वैधी भक्तिके फलको ग्रहण करना अस्वीकार कर रहे हैं। रागानुगाभक्तिका फल जो प्रेम है, वही प्राप्त करना चाहते हैं। उसके अतिरिक्त मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। चातक पक्षीकी भाँति स्वाति नक्षत्रका ही पानी पियेंगे, चाहे हम प्यासे मरें तो मर जाएँ, चाहे वज्र गिरे, परन्तु पियेंगे तो स्वाति नक्षत्रका ही पानी। श्रीराधाकृष्णके प्रेमको छोड़कर, विशेषकर श्रीराधाकी पाल्यदासीत्व पदको छोड़कर और कुछ नहीं चाहता। प्राणसखी एवं प्रियनर्मसखियोंके आनुगत्यमें राधाजीकी एवं राधाजीके आनुगत्यमें ही रहकर उनके प्रियतम जो श्याम हैं, उनकी सेवा करूँ, यही फल चाहता हूँ और कोई वर मुझे नहीं चाहिए। श्रीमन्महाप्रभु एवं श्रीरूप गोस्वामीकी आनुगत्यमयी प्रेमसेवा चाहिए। यशोदाके वात्सल्यप्रेम–रज्जुसे बन्धे हुए, कज्जलकी रेखाएँ कपोलोंपर पड़ी हैं, मैयाके भयसे लम्बी–लम्बी साँस ले रहे हैं। ब्रह्माण्ड जिनकी भ्रकुटीमात्रसे डरता है, आज वे सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वरेश्वर मैयाके भयसे काँप रहे हैं। मैया मुझे मारे नहीं—यही है व्रजका विशुद्ध एवं मधुर वात्सल्यप्रेम। यही बालगोपाल हमें चाहिए। किन्तु आश्चर्यकी बात है कि अभी उनकी तृष्णा पूर्ण नहीं हुई है। मैयाके गण्ड चुम्बन, कुण्डलोंके चुम्बन, विशेषकर गोपियोंके मधुर चुम्बनको देखकर अन्तमें अपनी अभिलाषा और व्यक्त करेंगे। मैयाके लालाकी स्फूर्त्ति होना बहुत कठिन है। सत्यव्रत मुनि सोच रहे हैं कि श्रीकृष्णप्रेम कैसे प्राप्त होगा? वास्तवमें श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवा एकमात्र नामसंकीर्त्तनसे ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए अब इस श्लोकमें नामसंकीर्त्तन कर रहे हैं। इन्होंने सुना कि राससे जब श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गए, तब गोपियाँ श्रीकृष्णके बिना नहीं रह पाईं, तो क्रन्दन करने लगीं। रोती हुई उन्होंने जो गान किया वह गान 'गोपीगीत' के नामसे प्रसिद्ध है। विशेषकर श्रीमन्महाप्रभु गम्भीरामें बड़े प्रीतिपूर्वक उसका आस्वादन करते थे—

तव कथामृतं तप्तजीवनं, कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं, भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
(श्रीमद्भा. १०/३१/९)

विरह-सन्तप्त गोपियाँ कहती हैं—तुम्हारी लीलाकथा अमृत नहीं, मृत अर्थात् हलाहल विष है। उसका श्रवण करनेसे जीवन सन्तप्त हो जाता है। कवियोंने उसके माहात्म्यका जो गान किया है, वह वृथा है। वह उल्टे, श्रवणमात्रसे जीवनको दुःखी बना देती हैं। वह आपात सुन्दर, परम मधुर है। उस लीलाकथाके वाचक यथार्थमें जीवनको उच्छेद करनेवाले हैं।

वहाँ भूरिदा वे हैं, जो कृष्णकी कथाओंको जगतमें वितरण करते हैं। गोपियाँ अत्यन्त विरहातुर होकर, दिव्योन्मादकी अवस्थामें कहती हैं—ये भूरिदा अर्थात् कालेकी कथाको कैसे वितरण करते हैं, अपनी बगलमें भागवतकी पोथीको लिए हुए गली-गलीमें फिरते हैं। कहते हैं—हमें पैसे नहीं चाहिए, केवल श्रवण करो। बिना मूल्यकी कृष्णकथाका जाल फेंकते हैं, जिसमें जीव फँस जाता है। फँसनेके बाद उसमें तड़पता है, रोता, विलखता हुआ "श्रीमदाततं" अर्थात् अपने घर-बार, धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब, परिवारको छोड़ देता है। भिक्षुककी भाँति या पक्षियोंकी भाँति मधुकरी चुगता है। अर्थात् उनका स्थाई घर-बार नहीं होता। जहाँ मिलता है, वहीं खा लेता है। जहाँ मिलता है, वहीं सो जाता है और दिन-रात श्रीकृष्णके विरहमें तड़पता रहता है। सखि! यह भागवतकी कथाका वितरण करनेवालोंका दोष नहीं, यह दोष तो श्रीकृष्णकी मुख-माधुरी या रूप-माधुरी, वेणु-माधुरी, गुण-माधुरी एवं लीला-माधुरीका है, जिसे सुनकर भक्तोंकी ऐसा दशा हो जाती है। सखि! औरोंकी तो बात ही क्या, अपनी ही दशा देखो। इन कृष्णकथा वाचकों जैसा अन्य कोई शिकारी नहीं है। इनकी कृष्णकथा सुनकर सुननेवाले, स्वयं भी रोते हैं और घरवालोंको भी रुलाते हैं।

अगर देखा जाए तो श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ भूरिदा हैं, जिन्होंने पहले वेणु बजाकर हमारा घर-बार छुड़ाकर पागल बनाकर हमें पथकी भिखारिण बनाकर छोड़कर चले गए, इनसे बड़ा और कृतघ्न कौन होगा? इतना सुनते ही श्रीकृष्ण प्रकट हो गए, अरे-अरे मैं कृतघ्न नहीं, तुम तो मेरी प्रिया हो और मैं तुम्हारा प्रियतम हूँ। मैं तो तुम्हारे ध्यानको बढ़ाता हूँ। इस प्रकार बातें करने लगे। मैं गया

कहाँ? मैं तो कहीं अन्तर्धान नहीं हुआ, मैं तो तुम्हारे पीछे-पीछे ही था। तुम्हारा विरह-गीत सुन रहा था। यदि कोई गोपियोंकी भावनासे युक्त होकर दीन-हीन और उनकी कृपाको पानेकी आशासे कीर्त्तन करें, तो श्रीकृष्ण रह ही नहीं सकते, वे अवश्य ही दर्शन देंगे। श्रीगुरु-प्रदत्त नामसंकीर्त्तनको सम्बन्धयुक्त अनर्थरहित होकर करेंगे, तो जितनी भी लीलाओंका सम्बन्ध एवं माधुर्य है, वह अपने आप नामप्रभुकी कृपासे हृदयमें प्रकट होने लगता है। इसलिए रसराज-महाभावयुक्त श्रीशचीनन्दन गौरहरिने इस मन्त्रका प्रचार किया।

श्रीराधिकाजी कुञ्जमें श्रीकृष्णके मनको हरण करती हैं, इसलिए वे 'हरा' हैं (सम्बोधनमें हरे हुआ)। 'कृष्' अर्थात् आकर्षण करना और 'ण'—आनन्द अर्थात् जो अपने रूप, गुण, वेणु, लीलासे सभीको आनन्दित करते हैं, वे 'कृष्ण' हैं। 'राम'—दशरथनन्दन श्रीराम नहीं; जो राधाजीके साथ विहार करते हैं, उन्हें ही राधारमण या राम कहते हैं और श्रीकृष्णने वंशी बजाकर गोपियोंके मनको आकर्षण किया इसलिए वे कृष्ण हैं। कितने-कितने मधुर भाव इसमें है। कोई भी भाव या कोई भी कृष्णलीला ऐसी नहीं, जो इस महामन्त्रसे जुड़ी न हो। यह तो गुरु-वैष्णवोंकी कृपासे ही हृदयमें उदित होती है। यह कैसा मधुरसे भी मधुर नाम है, यह इन्हीं महाजनोंकी कृपासे पहले हृदयमें स्फुरित होता है। फिर वह उदित होकर उस लीलामें प्रवेश कराता है।

श्रीमद्भागवतमें भी परोक्षवाद है, परोक्षवादमें प्रेमका आस्वादन किया। सत्यव्रत मुनि श्रीकृष्णकृपाकी प्राप्तिके लिए "नमो देव! दामोदरान्त! विष्णो!" कीर्त्तन कर रहे हैं। इसी कीर्त्तनसे उनके हृदयमें बालगोपालरूप उदित हुआ। किसी साधक भक्तकी सिद्धि नहीं होती है, तो वह क्या करें? दीन-हीन कातर होकर महामन्त्रका कीर्त्तन करे—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृहन्नारदीयपुराण)

यह महामन्त्र कलियुगमें अव्यर्थ (सञ्जीवनी) औषधि है। इससे जो कुछ चाहोगे, वही प्राप्त होगा। लौकिक जगतकी तो बात ही क्या? पारमार्थिक वस्तु भी प्राप्त हो जाती है। कीर्त्तनका माहात्म्य ही ऐसा है।

प्रारम्भमें आराध्यदेवको नमस्कार करना ही उचित होता है, इसलिए पहले ही देवको नमस्कार कर रहे हैं—'नमो देव!'। 'देव' अर्थात् अत्यन्त दिव्य रूप, कैसा दिव्य रूप है—

कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभं।
नासाग्रे वरमौक्तिकं करतले वेणुः करे कङ्कणम्॥
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुललितं कण्ठे च मुक्तावली।
गोपस्त्री-परिवेष्टितो विजयते गोपाल-चूड़ामणिः॥

(श्रीगोपाल-सहस्रनाम-स्तोत्रम्)

व्रजाङ्गनाओंसे परिवेष्टित यही श्रीकृष्णका सबसे सुन्दर एवं मनोहर स्वरूप है। ऐसे श्रीकृष्णको यशोदा मैयाने बाँध रखा है। कमर रस्सीसे पीछेसे ओखलके साथ बँधे हुए हैं। 'देव' का दूसरा अर्थ है—क्रीड़ति अर्थात् यहाँ बालरूपमें क्रीड़ा कर रहे हैं। मैं बालगोपालका ऐसा अलौकिक सुन्दर रूपका दर्शन करना चाहता हूँ।

यहाँ 'विष्णु' शब्द आया है, 'विष्णु'—सर्वव्यापक अर्थात् ऐसी कोई जगह या हृदय नहीं है, जिसमें तुम न हो। तुम सर्वत्र हो। श्रील सनातन गोस्वामिपाद विष्णु शब्दका एक दूसरा अर्थ करते हुए कहते हैं—

विक्रीड़ितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश‍ृणुयादथ वर्णयेद् यः॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/३९)

इस श्लोकमें 'विष्णु' शब्दका अर्थ श्रीकृष्णसे ही लिया गया है। वे श्रीकृष्ण, जो गोपियोंके प्रेमका आस्वादन करनेके लिए वेणुवादन द्वारा उनको घरोंसे आकर्षण किया, फिर उनके प्रेमके विषय बने। इसलिए यहाँ 'विष्णो' शब्दका अर्थ व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णसे है।

"**दामोदर**"—यहाँ दामोदरके कई अर्थ बतलाते हुए श्रील सनातन गोस्वामी कहते हैं—एक तो यशोदाजीके वात्सल्यरसका आस्वादन करनेके लिए उनके प्रेम-रज्जुसे बँधकर यशोदा-दामोदर हुए। दूसरा अर्थ है—जब श्रीकृष्ण राससे अन्तर्धानके बाद पुनः प्रकट हुए, सेवाकुञ्ज और मानसरोवरमें मान भङ्गकर रास प्रारम्भ होनेसे पूर्व ही श्रीललिता और श्रीविशाखाने श्रीकृष्णके पीताम्बर और श्रीराधाजीकी ओढ़नीमें गांठ बाँध दी ताकि श्रीकृष्ण अब इधर-उधर नहीं भागें। इसलिए श्रीश्रीराधादामोदर हुए। 'दामोदर' का एक तृतीय अर्थ बतलाते हुए कह रहे हैं—श्रीकृष्ण जब राधाजीके पास अभिसारके लिए आ रहे थे, बीचमें ही पद्माजी उनको बुलाकर गौरी कुण्डमें ले गईं तथा चन्द्रावलीके कुञ्जमें ले जाकर चन्द्रावलीसे मिलवा दिया। इधर श्रीराधाजी उत्कण्ठित हो रही थीं, श्रीरूप आदि मञ्जरियाँ श्रीकृष्णको ढूँढ़ रही थीं। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब वे गौरी कुण्डमें पहुँचीं तब श्यामसे कहती हैं—अजी अघारि! विरहरूपी असुर व्रजमें आ गया है, सारे व्रजका ध्वंस कर रहा है। इतना सुनते ही श्यामसुन्दर चन्द्रावलीको समझाते हुए बोले—अरी सखि! अभी मैं असुरको मारकर आ रहा हूँ, तुम प्रतीक्षा करो। ऐसा कहकर मञ्जरियाँ चन्द्रावलीके कुञ्जसे श्रीश्यामसुन्दरको निकलवाकर श्रीराधाजीसे मिलवाती हैं और उनका वहाँ गठबन्धन करती हैं। तबसे वे श्रीश्रीराधादामोदर हुए। एक और स्थानपर सखिओंने श्रीराधाजीका गठबन्धन किया तभी 'दामोदर' हुए और इस स्थानका नाम 'गांठोली गाँव' हुआ।

"**प्रसीद प्रभो!**"—हे प्रभो! आप मुझपर प्रसन्न हों, क्योंकि मैं अपार संसार-सागरमें डूब रहा हूँ। इससे मैं स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर पा रहा हूँ। आपको छोड़कर और कोई गति नहीं है। 'प्रभो' का तत्पर्य ईश्वरसे है। सन्तोंकी अहैतुकी कृपासे ही भगवत्कृपा प्राप्त होती है।

श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीनन्दमहाराज गर्गाचार्यजीसे कहते हैं—

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित्॥

(श्रीमद्भा. १०/८/४)

"सन्तोंका विचरण करना तो हम जैसे दीन-हीन जनोंपर कृपा करनेके लिए ही होता है।" यह नरलीला है, इसलिए नन्दबाबा ऐसा कह रहे हैं। तत्त्वतः देखा जाए तो कहाँ नन्दबाबा और कहाँ गर्गाचार्यजी। फिर भी नरलीलाके अनुसार ऐसी ही लीला करते हैं। सन्तोंकी महती कृपासे ही भगवत्-प्राप्ति होती है। साधनमें कष्टकी तो बात ही क्या, श्रीकृष्णके नित्यपरिकर उनकी मैयाने भी श्रीकृष्णको बाँधनेके लिए कितना परिश्रम किया, तब बँधनेमें आए। हमारी तुम्हारी तो बात ही क्या? प्रभो! हम संसारके त्रितापमें जलकर मर रहे हैं। हमें बहुत आडम्बर करनेकी आवश्यकता नहीं, केवल साधु (गुरु-वैष्णव) जैसा साधन बतलाते हैं, ठीक वैसा ही हमें करना चाहिए। कैसे? जैसे हमारे छह गोस्वामियोंने भजन किया है—

राधाकुण्ड-तटे कलिन्द-तनया-तीरे च वंशीवटे,
प्रेमोन्माद-वशादशेष-दशया-ग्रस्तौ प्रमत्तौ सदा।
गायन्तौ च कदा हरेर्गुणवरं भावाभिभूतौ मुदा,
वन्दे रूप-सनातनौ रघुयुगौ श्रीजीव-गोपालकौ॥

(श्रीषड्गोस्वाम्यष्टकम् ७)

मैं श्रीरूप-सनातनादि छह गास्वामियोंकी वन्दना करता हूँ कि जो प्रेमोन्मादके वशीभूत होकर, विरहकी सारी दशाओंके द्वारा ग्रस्त होकर, प्रमोन्मत्तकी भाँति कभी राधाकुण्डके तटपर, कभी यमुनाके तटपर, कभी वंशीवटपर सदैव घूमते रहते थे; सदा-सर्वदा श्रीहरिके श्रेष्ठ गुणोंको हर्षपूर्वक गाते हुए भावमें विभोर रहते थे।

"अशेष-दशया" का तात्पर्य रोमाञ्च, पुलक आदि यहाँ तक कि मृत्यु अर्थात् मूर्च्छा, मूर्च्छित हो जाते थे। इन महाजनोंका भजन कहाँ और हमारा भजनसाधन कहाँ? हमारे लिए तो मूर्च्छाकी तो बात दूर रहे, एक बूँद अश्रु भी नहीं आता है। ऐसा भजन होना चाहिए जो हर क्षण साधुसङ्गमें रहकर अपने इष्टदेवकी सेवामें मग्न रहें। रागानुग जनोंका दर्शन नहीं मिलता, उसके लिए तड़पते हैं—

हे राधे! व्रजदेविके! च ललिते! हे नन्दसूनो! कुतः?

(श्रीषड्गोस्वाम्यष्टकम् ८)

और इससे बढ़कर जो रागात्मिकजन हैं, उनका विरह अथवा विप्रलम्भ तो अवर्णनीय है। कुछ-कुछ श्रीशुकदेवपादने श्रीमद्भागवतमें गोपीगीत, भ्रमरगीतमें इंगितमात्रसे दर्शन कराया है और कुछ-कुछ श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीने केवल दिग्दर्शन कराया है कि श्रीकृष्णविरहमें क्या अवस्था होती है? भावभक्ति सहज नहीं, लाख-लाख क्लिष्ट साधनोंसे भी साध्य नहीं। देखो, उद्धवजी स्वयं नन्दगाँवमें आए। उनको सभी रसोंके रागात्मिक जनोंका सङ्ग प्राप्त हुआ। सर्वश्रेष्ठ श्रीमती राधाजीका दूरसे ही सङ्ग पाया। उनकी कायव्यूहा सखियोंके साथ सङ्ग हुआ। किन्तु फिर भी व्रजकी कोई तृण, लता गुल्म नहीं बन पाए। अन्तमें केवल उन्होंने वन्दना ही की—

आसामहो चरण-रेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्म-लतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा
भेजुर्मुकुन्द-पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥
(श्रीमद्भा. १०/४७/६१, ६३)

तात्पर्य यह है कि साधुसङ्ग पाकर भी हमलोग उस रस और भावसे वञ्चित हो जाते हैं। क्यों? इसका सीधा-साधा तात्पर्य है वास्तवमें साधुजन जिस वस्तुका हमको आस्वादन कराना चाहते हैं, हमारी उसे आस्वादन करनेकी इच्छा नहीं है। क्या हम साधुसङ्गके लिए छटपटाते हैं? अथवा उत्कण्ठापूर्वक भजन करते हैं? जैसा कि श्रीकृष्णकी लीला संगोपनके बाद व्रजवासियोंकी, उसमें भी श्रीमती राधाजीकी कृपासे उद्धवजीको व्रजभाव विशेषकर श्रीराधाजीके चरणरेणुकी एक कण बननेकी इच्छा जाग्रत हुई थी, उसे पानेके लिए आज तक गोवर्द्धनमें श्यामकुटीमें रहकर भजन कर रहे हैं। पता नहीं उन्हें व्रजकी रज कण प्राप्त हुई या नहीं हुई। श्रीतुलसीदासने भी लिखा है—

अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत।

अर्थात् भगवत्कृपासे दुर्लभ मानव योनि मिली। उसे पशुकी तरह खान-पान, शयनमें निकाल दिया, तो फिर चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करना पड़ेगा। इसलिए असार संसारकी अनुभूतिकर दृढ़तापूर्वक साधुओंका सङ्ग करो। यहाँपर यही प्रार्थना सत्यव्रत मुनि कर रहे हैं। "दुःख मध्ये कौन दुःख हय गुरुतर?"—सभी दुःखोंमें अधिक दुःख क्या है? भक्तोंका विरह ही सर्वाधिक दुःख है। हे प्रभो! हमारे ऊपर कृपाकी दृष्टि करें। हम नाम ग्रहण करते हैं तो हमारे शरीरमें अश्रु-पुलक नहीं होता, कोई साधनभजन नहीं है। हमें आपकी कृपादृष्टिके ऊपर ही एक मात्र भरोसा है। भरोसेका तात्पर्य क्या? आपकी कृपासे व्रजका प्रेम, विशेषकर श्रीचैतन्यमहाप्रभु जिस प्रेमको देने आए अर्थात् गोपीभाव, उसे आपकी कृपादृष्टिसे ही पाया जा सकता है। जिस प्रकार हम साधनभजन कर रहे हैं, उससे लाखों-लाखों जन्म व्यतीत हो जाएँगे। फिर भी व्रजका प्रेम, उसमें भी सर्वोत्तम जो गोपीप्रेम है, वह एकदम असम्भव है। हे प्रभो! आप कृपा करें।

खेदपूर्वक यहाँ कह रहे हैं कि गोपीभावका एक छींटा भी लग जाए। यह छींटा कैसे लगेगा? व्रजभाव भावित साधुओंकी कृपा होनेसे ही यह भाव प्राप्त होगा। इसलिए हे प्रभो! ऐसा विशुद्ध साधुसङ्ग प्रदान करके हमारा मनोऽभीष्ट पूर्ण करें।

बालगोपाल जो मैयासे भयभीत होकर ओखलसे बँधे हुए हैं, रो रहे हैं, इस स्फूर्त्तिसे भी कार्य नहीं चलेगा। हे प्रभो! इसी रूपको अपनी आँखोंसे दर्शन करूँ—यही मेरी प्रार्थना है। पूर्वमें कहा गया है कि पिप्पलायन ऋषिने कहा कि पहले मनमें दर्शन होता है, फिर आँखोंसे दर्शन होता है। ब्रह्माजीने पहले मनमें श्रीकृष्णके दर्शन किए, वर भी प्राप्त हुआ और वह वर भी पूरा हो गया। अर्थात् सृष्टि करनेकी शक्ति भी आ गई। श्रीगोपकुमार कहते हैं—आपका विचार बहुत अच्छा है, फिर भी मैं तो अपने नेत्रोंसे ही श्रीमदनगोपालका दर्शन करना चाहता हूँ।

परम गुरुदेव श्रीसरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' कहते हैं—पहले दर्शन आत्मामें होता है, वही मनमें प्रतिबिम्बित होता है। श्रीगुरु-वैष्णव उन्हीं

भावोंको पूर्ण विग्रहके रूपमें बाहर प्रदर्शित करते हैं। श्रीगुरु-वैष्णव कृपा करके श्रीकृष्णकी सेवावृत्तिका बीज हमारे हृदयमें रोपण करते हैं, जिससे श्रद्धा, निष्ठा, आसक्तिके रूपमें वह बीज बढ़ता-बढ़ता आगे अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है। बशर्ते कि निरन्तर ठीक-ठीक रूपमें साधुसङ्गके अनुसार हम चलें। भावनेत्रोंसे भी हृदयमें इष्टदेवकी स्फूर्त्ति होती है; जैसे साक्षात् श्रीचैतन्यमहाप्रभु मैयाकी रसोई पाते हैं, मैया उसे स्फूर्त्ति मानती हैं। गोपियोंके पास भी कृष्ण आते हैं, गोपियाँ भी उसे स्फूर्त्ति मानती हैं, ऐसे साधकको ही प्रेम होता है। इस जगतको छोड़कर पर-जगतमें चला जाता है। तब उनका साक्षात् दर्शन करता है, इससे अनर्थकी गन्ध भी दूर हो जाती है। फिर अप्रकटलीला वृन्दावनमें प्रवेश करता है।

दूसरा अर्थ है गिरिराज गोवर्धनकी कन्दराओंमें इतनी सुन्दर-सुन्दर कुञ्जें हैं, जहाँ श्रीकृष्णकी नित्य निकुञ्जलीला सम्पन्न होती हैं, उन कुञ्जोंको देवतादि भी देखनमें असमर्थ हैं—यही सर्वव्यापीका अर्थ है। आप हमें इन कुञ्जोंकी कोई भी सेवा प्रदान करें। इन कुञ्जोंको झाड़नेकी झाड़ूकी एक सींक भी बन जाऊँ। उससे भी मेरा जीवन सार्थक हो जाएगा।

"नमो देव दामोदर!"—आपका मुखारविन्द सदा मेरे हृदयमें स्फुरित रहे। कैसा श्रीमुखारविन्द है? बालगोपालरूप, जो मैयाके भयसे भीत है। आँखोंसे आँसुओंकी लड़ी झड़ रही हैं। श्रीकृष्णका ऐसा मुखारविन्द जो मैया अथवा श्रीराधाजी द्वारा चुम्बित होता है। जो अधरोंपर वंशी धारण करते हैं, जगतको आकर्षित करते हैं, स्वयं भी आकर्षित होते हैं। जिनके स्वरूपको देखकर चर—अचर एवं अचर—चर बन जाते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण मेरे हृदयमें आविर्भूत होवें। सत्यव्रत मुनि सोच रहे हैं, बिना कीर्त्तनके श्रीकृष्ण आविर्भूत नहीं होंगे, इसलिए कीर्त्तनके माध्यमसे प्रार्थना कर रहे हैं—"नमो देव! दामोदर!" इत्यादि। रासके समय श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गए थे। तब गोपियोंने श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शनके लिए कीर्तन किया, जो श्रीमद्भागवतमें गोपीगीतके नामसे प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण उस कीर्त्तनको श्रवणकर

अपनेको रोक न सके और प्रकट हो गए। हे 'देव'—दिव्य रूप विशिष्ट या अद्भुत रूप-विशिष्ट, हे भक्त-वत्सल 'दामोदर!'—अपनी मैयाके प्रेम-रज्जुसे बँधने वाले! 'हे अच्युत!'—हे अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न! 'हे श्रीकृष्ण!'—हे अनन्तशक्तिविशिष्ट, कृपालु! 'अनन्त' अर्थात् सर्वव्यापक या सर्व अन्तर्यामि! 'हे विष्णो!' अर्थात् हे व्यापक! मेरे ईश्वर! समस्त जीवोंके हृदयके साक्षी, 'हे प्रभो!' अर्थात् आप परम स्वतन्त्र हैं, आप किसीकी भी अपेक्षा नहीं रखते हैं। यहाँ तक कि साधनभजनकी भी अपेक्षा नहीं रखते। यदि साधक सम्पूर्ण रूपसे शरणागत है, तो उसके साधनभजनकी अपेक्षा नहीं रखते। अर्थात् श्रीचैतन्यमहाप्रभु जैसा दयालु और कौन जगतमें होगा, जिनका दूरसे दर्शन करनेपर भी प्रेम प्रकट हो जाता है। श्रीमन्महाप्रभु पात्र-अपात्र अर्थात् जीवोंके साधनभजनकी अपेक्षा न कर सभीको प्रेम बाँटते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण श्रीचैतन्यचरितामृतमें है। जब श्रीमन्महाप्रभु झाड़ीखण्डसे वृन्दावन जा रहे थे, तो जंगली पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, पेड़, पौधे, लतादि सभीको कृष्णप्रेम वितरण किया।

"हे ईश!" अर्थात् आप सबके नियामक हैं। आपकी कृपा पानेके लिए दूसरेकी कृपाकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, श्रीगुरु, वैष्णवोंकी कृपा बिना कृष्णप्रेम नहीं मिल सकता है। आप हमारे प्रति प्रसन्न होवें। मैं संसारके दुःखोंसे जर्जरित हो रहा हूँ। कोटि-कोटि अर्थात् अगणित, अनादि कालसे मैं जन्म-मरणके चक्करमें फँसा हुआ हूँ। इसका कारण मेरी देहात्मबुद्धि है। मैं अत्यन्त दीन हूँ। दीन अर्थात् न मुझमें साधु कृपाका बल है, न साधनका बल। मैं तो अज्ञ हूँ। आप हमारे ऊपर कृपा करें। साक्षात् रूपसे दर्शन प्रदान करें।

भाग्यसे यदि साधुसङ्ग मिल भी जाए, तो भी साधु सङ्गका प्रभाव हमारे हृदयपर नहीं होता। श्रीहरि-गुरु-वैष्णवोंपर पूर्ण विश्वास नहीं है। मैं असहाय हूँ, अर्थात् मैं गुरु एवं भगवत्-कृपासे वञ्चित हूँ, पामर हूँ॥६॥

इति श्रीदामोदराष्टकके छठे श्लोककी दिग्दर्शिनी-वृत्ति समाप्त।

सप्तमः श्लोकः

कुबेरात्मजौ बद्ध-मूर्त्यैव यद्वत्
त्वया मोचितौ भक्तिभाजौ कृतौ च।
तथा प्रेमभक्तिं स्वकां मे प्रयच्छ
न मोक्षे ग्रहो मेऽस्ति दामोदरेह॥७॥

अन्वय—बद्ध-मूर्त्या एव (श्रीयशोदा द्वारा ऊखलसे बँधे हुए श्रीविग्रहरूप); त्वया (आपके द्वारा); कुबेरात्मजौ (नलकूबर और मणिग्रीव); यद्वत् (जिस प्रकार); मोचितौ (नारदके शापके कारण बने दो अर्जुन पेड़ोंके जन्मसे तथा संसारसे भी मुक्त किए गए); भक्ति-भाजौ कृतौ च (तथा भक्तिके पात्र भी किए गए); दामोदर! (हे भक्तवत्सल); तथा (उसी प्रकार); स्वकां (अपनी); प्रेम-भक्तिं (प्रेमभक्ति); मे (मुझे); प्रयच्छ (अधिकताके साथ प्रदान कीजिए); इह (इसी प्रेमभक्तिमें); मे (मेरा); ग्रहः (आग्रह); अस्ति (है); न मोक्षे (मुक्तिमें मेरा आग्रह नहीं है)॥७॥

श्लोकानुवाद—हे दामोदर! जिस प्रकार आपने अपने दामोदर रूपसे (माता यशोदा द्वारा) ओखलमें बँधे रहकर भी (नलकूबर और मणिग्रीव नामक) कुबेरके दोनों पुत्रोंका (नारदके शापसे प्राप्त) वृक्ष योनिसे उद्धारकर उन्हें परम प्रयोजनरूप अपनी भक्ति प्रदान की थी, उसी प्रकार मुझे भी आप अपनी प्रेमभक्ति प्रदान कीजिए, यही मेरा एकमात्र आग्रह है। किसी भी प्रकार अन्य प्रकारके मोक्षके लिए मेरा तनिक भी आग्रह नहीं है॥७॥

दिग्दर्शिनी-टीका—इत्थं प्रेमविशेषेण परमोत्कण्ठया सह साक्षाद्दर्शनं प्रार्थ्य तत एव सद्योजात-प्रेमभक्ति-विशेषेण तस्य परम-दौर्लभ्यं मन्यमानस्तत्र च परमोपायभूतां प्रेमभक्तिमभिज्ञाय। यद्वा, सकृद्दर्शने मनोऽतृप्तिं विरह-दुःखोत्तरताञ्चाशङ्क्य सदा तद्वशीकरणाय प्रेमभक्तिमेवैकमुपायमभिज्ञाय। तत्र

च परमापराधिनो मम कथं सा सम्भवेदित्याशङ्क्य श्रीभगवद्वात्सल्य-महिम्ना चासम्भाव्यमपि सर्वमेव सम्भवेदिति निश्चित्य, मोक्षत्यागेन प्रेमभक्तिमेव प्रार्थयते—कुबेरेति।

बद्धया गोप्या पाशैरुदूखले शृंखलितया मूर्त्त्या श्रीविग्रहेणैवेति, तयोर्मध्ये स्वयं प्रवेशात् परमसुन्दरलीलादि-विशिष्टस्य भगवतः साक्षाद्दर्शन-स्पर्शनादिकं सूचितं। [कुबेरात्मजौ] मोचितौ श्रीनारदशापात् संसाराच्च। न केवलं तावदेव, परमभक्तिश्च ताभ्यां दत्तेत्याह—[भक्ति-भाजौ] भक्तिं भजतः परम-साध्यत्वेनाश्रयतः न कथञ्चिदपि त्यजत इति तथा तौ। एवञ्च प्रेम-भक्तिरेव दत्तेत्यभिप्रेतम्।

तथा च श्रीभगवद्वचनं (श्रीमद्भा. १०/१०/४२)—"सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः।" इति। अस्यार्थः—वां युवयोरीप्सितोऽपेक्षितः, परमो भावः प्रेमा, मयि सम्यग्जात एव, न भवः पुनर्जन्म संसारदुःखं वा यस्मात् स इति। हे दामोदर! तथा तद्वत् स्वकां त्वच्चरणारविन्दैकाश्रयाम् एतद्रूपैक-विषयां वा [प्रेम-भक्तिं] मे मह्यं, प्रकर्षेण यच्छ देहि।

ननु किमत्राग्रहेण? कुबेरात्मजवन्मोक्षोऽपि गृह्यताम्, अन्यथा जन्म-मरणादिसंसारापत्तेः। तत्राह—नेति। इह अस्यां प्रेमभक्तावेव, मम ग्रह आग्रहोऽस्ति न च मोक्षे ग्रहोऽस्ति।

अयमर्थः—प्रेमभक्त्या संसारध्वंसो भवति चेत्तर्हि भवतु नाम, न स्याच्चेत्तर्हि मास्तु नाम। तत्र ममापेक्षा नास्तीति। अत्र गूढ़ोऽयं भावः—चिन्तामनौ करस्थे, सर्वमेव स्वयं सेत्स्यति; किं तदेकमात्रतुच्छ-द्रव्य-ग्रहणेनेति।

यद्वा, हे दामोदर! स्वकां प्रेमभक्तिं प्रयच्छेत्येवं पाशबद्धोदर-भगवद्विषयक-प्रेमभक्ति-प्रार्थनया नित्यमुदरे पाश-बन्धना-ग्रहमाशङ्क्याह—मोक्षे पाश-बन्धनात्तव मोचने ममाग्रहो नास्ति किं? काक्वा अस्त्येवेत्यर्थः। किन्तु इह अस्मिन्नेव रूपे स्वकामसाधारणां प्रेमभक्तिं प्रयच्छेति।

यद्वा, ईह वृन्दावने प्रेमभक्तिं प्रयच्छेत्यन्वयः। ततश्च तत्रैव तस्याः सुख-विशेषाविर्भावकत्वात् प्रादुर्भाव-विशेषाच्च तथा तस्य साक्षाद्दर्शन-विशेषाकारत्वाच्च तथा तत्रैव तद्विहारि-श्रीभगवद्दिदृक्षाविशेषाच्च तत्र सदा निवासोऽपि प्रार्थितः इत्यूह्यं। अन्यच्च पूर्ववदेव॥७॥

इति श्रीदामोदराष्टके सप्तमश्लोके श्रीलसनातन गोस्वामिकृता
दिग्दर्शिनी-नाम्नी टीका समाप्ता।

दिग्दर्शिनी-टीकाका भावानुवाद—पिछले श्लोकमें प्रेमविशेषके कारण परमोत्कण्ठाके साथ साक्षात् दर्शनकी प्रार्थना सत्यव्रत मुनिने की।

तदनन्तर ही सद्यः उत्पन्न प्रेमभक्तिविशेषके कारण साक्षात् दर्शनको परम दुर्लभ मानते हुए और प्रेमभक्तिको ही इस विषयमें परम उपाय जानकर, अथवा एक बार दर्शन होनेपर मनकी अतृप्ति और उसके बाद होनेवाले विरहकी आशंकाकर सदा ही उनको वशमें करनेके लिए प्रेमभक्तिको ही परम उपाय जानकर, पुनः "मुझ परम अपराधीको यह कैसे सम्भव है"—इसकी आशंकाकर, परन्तु श्रीभगवद्वात्सल्यकी महिमासे असम्भव भी सभी सम्भव हो सकते हैं—यह निश्चयकर मोक्षत्यागपूर्वक प्रेमभक्तिकी ही प्रार्थना कर रहे हैं।

यशोदा द्वारा पाशसमूह द्वारा ऊखलमें शृंखलित श्रीविग्रह द्वारा ही दोनों कुबेरके पुत्र श्रीनारदके शाप और संसारसे मुक्त कर दिए गए। यहाँ दोनों पेड़ोंके मध्य स्वयंप्रवेशके द्वारा परमसुन्दर लीलाविशिष्ट भगवान्के साक्षात् दर्शन, स्पर्शन आदि भी सूचित हो रहे हैं। केवल उन्हें मुक्त ही नहीं किया गया, बल्कि परमभक्ति भी उन्हें दी गई, जो "भक्तिभाजौ" पद द्वारा सूचित होता है। यहाँ 'भक्तिभाक्' का अर्थ है—भक्तिको ही परमसाध्यके रूपमें आश्रय करनेवाला, किसी भी प्रकारसे उसे नहीं त्यागनेवाला। इस प्रकार "भक्तिभाजौ" पद द्वारा यह कहना चाहते हैं कि उन्हें प्रेमभक्ति दी गई। श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्की भी ऐसी उक्ति है—"सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः।" इसका अर्थ इस प्रकार है—मुझमें तुम दोनोंका अपेक्षित परम भाव अर्थात् प्रेम भलीभाँति उत्पन्न हुआ है, जो अभव है अर्थात् यह वह भाव है जिससे भव अर्थात् पुनर्जन्म या संसार दुःख नहीं होता है।

हे दामोदर! जैसे कुबेरपुत्रोंको प्रेमभक्ति दी गई, वैसे ही वह भक्ति मुझे भी प्रबलरूपमें दें, जो एकमात्र आपके चरणकमलोंका आश्रय करनेवाली है अथवा यह सुन्दर रूप ही जिसका विषय है। प्रश्न—इस विषयमें तुम्हारा आग्रह क्यों है, कुबेरपुत्रोंकी तरह मोक्ष भी ग्रहण करो अन्यथा जन्म-मरणादिरूप संसारकी प्राप्ति हो सकती है? उत्तर—उस प्रेमभक्तिमें ही मेरा आग्रह है, मोक्षमें मेरा आग्रह नहीं है। इसका अर्थ यह है कि प्रेमभक्तिके द्वारा यदि संसारका ध्वंस होता है तो हो, और यदि नहीं होता है तो न हो। इस विषयमें मेरी अपेक्षा नहीं है।

गूढ़भाव यह है कि यदि हाथमें चिन्तामणि हो तो सबकुछ स्वयं ही सिद्ध होगा, फिर किसी एक तुच्छ द्रव्यके ग्रहणसे क्या लाभ।

अथवा इस प्रसंगका दूसरा अर्थ इस प्रकार है—"हे दामोदर! आप निजविषयक प्रेमभक्ति प्रदान करें।" इस प्रकार पाशसे बँधा हुआ उदर है जिनका, उससे सम्बन्धित प्रेमभक्तिकी प्रार्थना द्वारा नित्यकालके लिए पाशबन्धके आग्रहकी आशंकाकर मुनि कह रहे हैं—क्या पाशबन्धनसे आपके मोचनमें मेरा आग्रह नहीं है? काकुस्वरसे कह रहे हैं—अवश्य है। किन्तु इस स्वरूपमें ही स्वविषयिका असाधारणी प्रेमभक्ति प्रदान करें।

अथवा, इस वृन्दावनमें प्रेमभक्ति प्रदान करें—ऐसा भी अन्वय हो सकता है। यह भी अनुमान करना चाहिए कि इसके द्वारा सदा वृन्दावनमें निवासकी भी प्रार्थनाकी गई है, क्योंकि वृन्दावनमें ही प्रेमभक्तिके सुखविशेषकी आविर्भावकता है, वहीं प्रादुर्भावविशेष है, साक्षात् दर्शनविशेषाकारता है तथा वहीं वृन्दावनविहारिभगवद्‌दिदृक्षा-विशेष है। अन्य अर्थ पूर्ववत् ही हैं॥७॥

इति श्रीदामोदराष्टकके सप्तम् श्लोकको श्रीलसनातन गोस्वामिकृत
दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी-वृत्ति—सत्यव्रत मुनि अब द्रवित चित्तसे कीर्त्तन कर रहे हैं और कीर्त्तनके माध्यमसे बालगोपालकी हृदयमें स्फूर्त्ति हुई। स्फूर्त्तिमें मानो श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि हे मुनि! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, जो कुछ माँगना चाहते हो, वह माँग लो। इसपर मुनि कहते हैं कि आप स्वयं बन्धनमें बँधे होनेपर भी कुबेरके पुत्र नलकूबर और मणिग्रीवको जैसा भक्तिका भाजन बनाया, उन्हें प्रेमभक्ति प्रदान की, वैसे ही मुझे भी प्रेमभक्ति प्रदान कीजिए।

कुबेरके दोनों पुत्र धनके मदमें मत्त थे। मद चार प्रकारका होता है—(१) रूपका, (२) विद्याका, (३) उच्च कुलका, (४) धन-ऐश्वर्यका।

साधुओंका अभिशाप एवं आशीर्वाद एक जैसा ही होता है। हम समझ नहीं पाते हैं। उनके आशीर्वाद और अभिशाप, दोनोंमें ही कल्याण है। नारदजीने कुबेरके पुत्रोंको अभिशाप दिया कि तुम धनके

मदमें मत्त होकर वृक्षोंकी भाँति जड़ होकर कार्य कर रहे हो, जाओ वृक्ष हो जाओ। नारदजीके कहनेके साथ-ही-साथ ये दोनों वृक्षकी भाँति जड़ होने लगे। दोनों नारदजीके श्रीचरणोंमें गिरकर अपने उद्धारका उपाय पूछने लगे। नारदजीने कहा—देखो, द्वापरयुगके अन्तमें स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण गोकुलमें अवतार लेंगे। वे ही तुम्हारा उद्धार करेंगे। ऐसा कहकर नारदजी तो चले गए। तत्पश्चात् इन दोनोंने नन्दभवनके पीछे युगल अर्जुनवृक्षके रूपमें जन्म लिया।

मैया अपने लालाको बाँधकर दधि-मन्थनके लिए चली गईं तब इन्हें भी अपने भक्त श्रीनारदजीके अभिशापका स्मरण हो आया। खेलके बहाने उनका उद्धार किया। खेलते-खेलते दोनों वृक्षोंके बीचमें ओखल आड़ी फँस गई। श्रीश्यामसुन्दरने ओखलको जोरसे खींचा, जिससे दोनों अर्जुनवृक्ष भीषण शब्द करते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े। सहसा उन वृक्षोंसे दो देव-पुरुष निकले, उन्होंने श्रीकृष्णकी परिक्रमा एवं स्तव-स्तुति की। श्रीकृष्णने उन्हें प्रेमभक्तिका वरदान दिया। अप्रकट व्रजमें मधुकण्ठ और स्निग्धकण्ठ नामक श्रीकृष्णलीलाकथा वाचक होकर वहाँ नन्दभवनमें कृष्णकथा सुनाने लगे।

यह प्रेमभक्ति कैसे प्राप्त होती है, इस विषयमें श्रीलरूप गोस्वामीपाद श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें बतला रहे हैं—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकनामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १/४/१५-१६)

प्रेमाभक्तिके बहुतसे क्रम हैं, उनमेंसे शास्त्रोंमें वर्णित प्रसिद्ध क्रमका ही वर्णन यहाँ किया जा रहा है। भगवत्-विमुख जीव अनादि कालसे अपार संसार-सागरके अनन्त प्रवाहमें पतित होकर इधर-उधर भ्रमण कर रहा है। भगवान्‌की विशेष कृपासे जिस समय जीवका संसार-क्षय होनेका समय उपस्थित होता है, उस समय उसको भगवद्भक्तोंका सङ्ग प्राप्त होता है। तब साधुसङ्गमें महत् पुरुषोंके श्रीमुखसे भक्त, भक्ति

और भगवान्—इन तीनोंका माहात्म्य श्रवण करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है।

भक्तिमूलक सुकृतिके द्वारा पारमार्थिक श्रद्धा उत्पन्न होती है। शास्त्र-वचनोंमें विश्वास और हरिकथा श्रवणमें अभिलाषा होना—श्रद्धाका लक्षण है। श्रद्धा उदयके पश्चात् साधुसङ्ग, तदनन्तर भजन-क्रिया आरम्भ होती है। साथ-ही-साथ अनर्थ-निवृत्ति भी आरम्भ हो जाती है। तत्पश्चात् भजनमें निष्ठा और तत्पश्चात् भजन तथा भजनीय वस्तुमें आसक्ति उत्पन्न होती है, जो परिपक्व होनेपर भावदशामें परिवर्तित हो जाती है। तदनन्तर प्रेमोदय होता है, साधकोंके चित्तमें प्रेमके आविर्भावका यही क्रम है।

सत्यव्रत मुनिकी प्रार्थना सुनकर मानो श्रीकृष्ण कहते हैं—हे मुने! तुम संसारके दुःखोंसे आत्यन्तिकी निवृत्तिरूप मोक्ष ग्रहण करो। तो मुनि कहते हैं—हे प्रभो! चाहे मुझे संसारमें कितने भी कष्ट मिलें, अपने संस्कारके अनुसार नरकमें अथवा किसी भी योनिमें क्यों न जाना पड़े, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। किन्तु आपसे मेरी यही प्रार्थना है कि मैं जहाँ भी, जिस योनिमें रहूँ केवल आपके भक्तोंका सङ्ग सदैव बना रहे। ऐसी प्रार्थना श्रीमद्भागवतमें वृत्रासुरने भी की है—

ममोत्तमःश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥
(श्रीमद्भा. ६/११/२७)

प्रभो! मैं मुक्ति नहीं चाहता। मेरे कर्मोंके फलस्वरूप मुझे बारम्बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकना पड़े, इसकी परवा नहीं। परन्तु मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, जिस-जिस योनिमें जन्म लूँ, वहाँ-वहाँ भगवान्के प्यारे भक्तोंसे मेरी प्रेम-मैत्री बनी रहे। स्वामिन्! मैं केवल यही चाहता हूँ कि जो लोग आपकी मायासे देह-गेह और स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्त हो रहे हैं, उनके साथ मेरा कभी किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न हो—यही हमारे आचार्यवर्ग कहते हैं। लोभ किसी भी अवस्थामें हो सकता है। जिसके हृदयमें यह रागानुगाभक्ति उदित होती है वह जगतका पूज्य बन जाता है। जगतकी तो बात ही क्या? श्रीकृष्ण

जो अजित हैं, उन्हें भी अपनी प्रेमभक्तिके माध्यमसे वशीभूत कर लेता है।

हे प्रभो! आप मैयाके प्रेम-रज्जुसे बँधे हुए हैं। उसी बन्धनवाले रूपसे सदा मेरे हृदयमें विराजमान रहें॥७॥

इति श्रीदामोदराष्टकके सप्तम श्लोकी दिग्दर्शिनी-वृत्ति समाप्त।

अष्टमः श्लोकः

नमस्तेऽस्तु दाम्ने स्फुरद्दीप्तिधाम्ने
त्वदीयोदरायाथ विश्वस्य धाम्ने।
नमो राधिकायै त्वदीय–प्रियायै
नमोऽनन्त–लीलाय देवाय तुभ्यम्॥८॥

अन्वय—ते (आपके); दाम्ने (उदरको बाँधनेवाली महती रज्जुको); स्फुरद्दीप्ति–धाम्ने (निखिल ब्रह्मतेजके आश्रयको); त्वदीयोदराय (आपके उदरको); अथ विश्वस्य (चर–अचर जगतोंके); धाम्ने (आधारको); नमः अस्तु (नमस्कार हो) त्वदीय–प्रियायै राधिकायै नमः (आपकी प्रिया श्रीराधिकाको नमस्कार हो); अनन्त–लीलाय (अनन्त लीला करनेवालेको); देवाय (अलौकिक); तुभ्यं (आपको); नमः (नमस्कार हो)॥८॥

श्लोकानुवाद—हे दामोदर! आपके उदरको बाँधनेवाली महान रज्जुको प्रणाम है। निखिल ब्रह्म तेजके आश्रय और सम्पूर्ण विश्वके आधारस्वरूप आपके उदरको नमस्कार है। आपकी प्रियतमा श्रीराधिकाके चरणोंमें मेरा बारम्बार प्रणाम है और अनन्त प्रकारकी अलौकिक लीला करनेवाले आपको मेरा प्रणाम है॥८॥

दिग्दर्शिनी–टीका—एवं स्तुतिं समापयन् स्वप्रार्थितसिद्धये भक्ति–विशेषेण वा तदीयासाधारण–परिकरावयव–परिवारादीनपि प्रत्येकं पृथक् प्रणमति—नमस्तेऽस्त्विति। ते तव, दाम्ने उदर–बन्धनमहापाशाय नमोऽस्तु; कथम्भूताय? स्फुरन्त्या दीप्तेस्तेजसो धाम्ने आश्रयाय। एवं तस्यापि ब्रह्मघनरूपताभिप्रेता।

अथानन्तरं त्वदीयाय उदराय नमोऽस्तु। पाश–बन्धने तेनैव सौन्दर्यादेर्वात्सल्य–लीलादेश्च विशेषतः प्रकाशनात्। कथम्भूताय? विश्वस्य चराचर–प्रपञ्चजातस्य, धाम्ने आधाराय, तत एव चतुर्दशभुवनात्मक–कमलोत्पत्तेः। तत्रैव च मातरं

प्रति वारद्वयं विश्वरूप-प्रदर्शनादिति दिक्। एवमुदरबन्धनेन विश्वस्यापि बन्धनापत्तेः श्रीयशोदया विश्वमपि वशीकृतमिति ध्वनितं।

तथा ईशस्य बन्धनासम्भवेऽपि बन्धन-स्वीकारेण भक्तवात्सल्यविशेषस्तथा बन्धनेन प्रपञ्चासङ्कोचावस्थित्यादि-समावेशस्य तर्कागोचरत्वादैश्वर्यविशेषश्च ध्वनित इति दिक्।

दाम-नमस्कारानन्तरमुदर-नमस्कारश्चोदरोपरिदाम्नो वर्त्तमानत्वात्, यथोत्तरमुत्कर्ष-विवक्षया वा।

इदानीं तदीय प्रियतमजन-कृपयैव वाञ्छितं वाञ्छातीतमपि सर्वमेव सुसिद्ध्येदित्याशयेन भगवतीं श्रीराधां प्रणमति नम इति। तथा च सर्वा एव गोपिका उपलक्ष्यन्ते, किम्वा तासु मुख्यतमात्र सैवैकोक्ता। राधिकेति सर्वदैव श्रीभगवदाराधन-विशेषादन्वर्थसंज्ञा। अतएव त्वदीय-प्रियेति।

यद्वा, राधिकेति रूढ़िसंज्ञा। ततश्चाराधनाद्यनपेक्षया सा नित्यप्रियैवेति। तत्र च त्वदीया अपि सर्वे जनाः प्रियास्त्वत्प्रीत्या यस्याः किमुत वक्तव्यं त्वमिति। एवं तस्यास्तस्मिन् प्रेम-विशेषः सूचितः। तस्यै नमः, यद्वा, त्वत्प्रियायै इति ततश्च यस्य त्वं प्रियोऽसि सोऽपि जगद्वन्द्यः स्यात्। एषा च तवैव प्रिया अतस्तस्यै नमोऽस्तु।

ततश्च तया सह रासक्रीड़ादिकं परमस्तुतित्वेनान्ते वर्णयितुमिच्छन् तच्च परम-गोप्यत्वेनानभिव्यञ्जयन्—'मधुरेण समापयेदिति'-न्यायेन किञ्चिदेव सङ्केतेनोद्दिशन् प्रणमति।

इति श्रीदामोदराष्टके अष्टमश्लोके श्रीलसनातन गोस्वामिकृता
दिग्दर्शिनी-नाम्नी टीका समाप्ता।

दिग्दर्शिनी-टीकाका भावानुवाद—इस प्रकार स्तुतिको समाप्त करते हुए अपने प्रार्थितकी सिद्धिके लिए भक्तिविशेष द्वारा अथवा उनके असाधारण परिकर, अवयव, परिवारादि प्रत्येकको पृथक् प्रणाम कर रहे हैं। आपके दाम अर्थात् उदरबन्धन महापाशको नमस्कार हो। कैसा दाम? जो दमक रहे तेजका आश्रय है, उसको नमस्कार है। इस प्रकार उस पाशकी भी ब्रह्मघनरूपता अर्थात् घनीभूत ब्रह्म होना अभिप्रेत है।

अनन्तर आपके उदरको नमस्कार है, क्योंकि पाशबन्धनमें उदरके द्वारा ही सौन्दर्यादि और वात्सल्यलीलादिका प्रकाशन हुआ है। कैसा उदर? जो सम्पूर्ण विश्व अर्थात् चराचर प्रपञ्चका आधार है, उसे

प्रणाम है, क्योंकि उदरसे ही चतुर्दशभुवनस्वरूप कमलकी उत्पत्ति हुई है, उदरमें ही माताको दो बार विश्वरूपका प्रदर्शन किया गया है। इस प्रकार उदरके बन्धनसे विश्वके बन्धनकी भी प्राप्ति होती है और यह ध्वनित होता है कि श्रीयशोदाके द्वारा विश्व भी वशीभूत कर लिया गया। यद्यपि ईशका बन्धन असम्भव है, तथापि बन्धन स्वीकार करनेके द्वारा भक्तवात्सल्यविशेष ध्वनित होता है। प्रपञ्चकी असंकुचित अवस्था आदिका उदरमें समावेश तर्कसे गोचर नहीं है, किन्तु ऐसे उदरका भी बन्धन हुआ है, इसलिए बन्धनके द्वारा ऐश्वर्यविशेष ध्वनित हुआ है।

पाशको नमस्कार करनेके पश्चात् उदरको नमस्कार किया गया है। इसमें दो कारण हो सकते हैं। प्रथम यह कि पाश उदरके ऊपर है, दूसरा यह कि पाशकी अपेक्षा उदरकी उत्कर्षता कहना चाह रहे हैं।

तदीय प्रियतमजनकी कृपा द्वारा ही वाञ्छित और वाञ्छातीत सब कुछ सिद्ध हो सकता है, इस आशयसे अब श्रीराधाजीको प्रणाम कर रहे हैं। श्रीराधाजीका नामोल्लेख होनेसे सभी गोपियाँ यहाँ उपलक्षित हो रही हैं अथवा सभी गोपियोंमें श्रीराधाजी ही मुख्यतमा हैं, इसलिए उनका नाम लिया गया है। सर्वदा ही भगवदाराधनविशेषके कारण 'राधिका' यहाँ अन्वर्थसंज्ञा है अर्थात् व्युत्पत्तिके द्वारा इसका अर्थ समझा जा सकता है। इसलिए वे आपकी अत्यन्त प्रिया हैं। उनको नमस्कार है।

अथवा, 'राधिका' रूढ़िसंज्ञा है। अतएव आराधनादिकी अपेक्षाके बिना ही वे नित्यप्रिया हैं। उसपर भी आपसे प्रीतिके कारण आपके सारे ही जन (परिकर) जिन्हें प्रिय हैं, फिर उन्हें आप प्रिय हैं, इस विषयमें क्या कहना। इस प्रकार श्रीकृष्णमें श्रीराधिकाका प्रेमविशेष सूचित हुआ। ऐसी श्रीराधिकाको नमस्कार है। अथवा, आप जिसके प्रिय हैं, वह भी जगद्वन्दनीय है। श्रीराधिका भी आपकी ही प्रिया है, अतः उन्हें नमस्कार है।

तदनन्तर परम स्तवनीय होनेके कारण श्रीराधाके साथ होनेवाली रासक्रीड़ा आदिका वर्णन करनेकी इच्छा होनेपर भी, ये लीलाएँ

परमगोपनीय हैं, अतः इसका स्पष्ट प्रकाश न करते हुए 'मधुरेण समापयेत्' न्यायसे किञ्चित् ही संकेत द्वारा उद्देश करते हुए प्रणाम कर रहे है—देवाय नमः। देव अर्थात् लोकोत्तरको नमस्कार है। इसके द्वारा लीलाओंकी भी लोकोत्तरता अभिप्रेत है। अथवा, "नमोऽनन्त-लीलाय"★ अर्थात् श्रीराधाके साथ निरन्तर क्रीड़ापरायण अतएव

★ [परमाराध्य श्रीगुरुपादपद्म अष्टोत्तरशत श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज द्वारा पाद-टीका]—

'नमोऽनन्तलीलाय' वचनसे साधारणतः जिनकी लीलाओंका अन्त नहीं है, उन्हीं अनन्तलीला भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार समझना चाहिए। किन्तु श्रील सनातन गोस्वामी श्रीसत्यव्रत मुनिके अन्तर्निहित उद्देश्यके प्रति दृष्टि रखकर और अपने भावानुसार उक्त वाक्यके एक और निगूढ़ अर्थको प्रकाश कर रहे हैं। यथा—श्रीरासलीलाको नमस्कार है। 'अनन्त' शब्दसे जिसका अन्त नहीं है अथवा शेष नहीं है; अर्थात् जिनकी लीला नित्य, अशेष और असंख्य आदि है। 'लीलाय' शब्द 'लील' शब्दसे चतुर्थी विभक्तिका एकवचन है। ('नमः' शब्द योगसे) 'लील' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'ली' + 'ल' = लील। 'ली' शब्दका अर्थ आलिङ्गन ग्रहण करना है और 'ल' शब्दका अर्थ-ग्रहण करना है। इसलिए 'लील' शब्दके द्वारा गोपियोंका आलिङ्गन ग्रहण करना सूचित होता है। जिससे उस रासक्रीड़ा आदि लीलाको नमस्कार समझना चाहिए। इसीलिए श्रील सनातन गोस्वामीने 'अनन्त-लीलाय' कहनेसे टीकामें—"गोकुल-विषयिका सर्वापि लीलोद्दिष्टा, तस्यै च नमः इति भावः।" लिखकर 'मधुरेण समापयेत्' वाक्यकी सार्थकता दिखलाई है।

यहाँ और भी एक विषय विशेष रूपसे लक्ष्य करना आवश्यक है। दामोदराष्टकके अन्तिम श्लोकमें श्रीलसनातन गोस्वामी कह रहे हैं कि श्रीकृष्णकी रासक्रीड़ा आदि लीलाएँ सर्वापेक्षा श्रेष्ठ होनेपर भी "परम गोप्यत्वेन अनभिव्यञ्जयन्—किञ्चिदेव सङ्केतेनोद्दिशन् प्रणमति"—इसका तात्पर्य यह है कि रासलीला परम गोपनीय है। इसीलिए सत्यव्रत मुनिने किञ्चित् सङ्केत अथवा इंगित किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इधर-उधर जहाँ-तहाँ रासलीलाका श्रवण-कीर्त्तन करनेकी विधि नहीं है। केवल ऐसा ही नहीं, अनधिकारी व्यक्ति यदि कामको दूर करनेके छलसे रासलीलाका मन-ही-मन चिन्तन, आचरण अथवा अनुकरण करता है, तो वह रासलीलाके गौरवकी हानिकर अपराध कर बैठता है, जिससे उसका निश्चय ही अधःपतन हो जाता है। अकालमें पके हुए प्राकृत सहजियाकी भाँति कामुक और गृहासक्त हो जाता है।

(अगले पृष्ठपर)

अनन्तलील आपको नमस्कार है। इस प्रकार 'अनन्त'—पद द्वारा गोकुलसे सम्बन्धित सभी लीलाएँ उद्दिष्ट हुई हैं। भाव यह है कि उन लीलाओंको भी नमस्कार है॥८॥

इति श्रीदामोदराष्टकके आठवें श्लोककी श्रीलसनातन गोस्वामिकृता दिग्दर्शिनी-नामक टीकाका भावानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी-वृत्ति—श्रीसत्यव्रत मुनि दामोदर श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे थे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिए पहले उनके परिकरों, उनमें भी उनकी परम प्रियतमा श्रीराधिकाको प्रसन्न करनेसे श्रीदामोदर कृष्णकी कृपा सहज ही प्राप्त हो सकती है। यह सोचकर "नमो राधिकायै तदीयप्रियायै"—श्रीराधिकाजीकी वन्दना करने लगे। शास्त्रमें ऐसा कहा गया है—

रासलीलाके श्रवण-कीर्त्तनका अधिकारीके निर्णय प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतके रासलीलाके अन्तमें वर्णन किया है। यथा—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/३०)

इसका तात्पर्य है कि ईश्वर अर्थात् यथार्थ योग्य, क्षमतासम्पन्न अधिकारी न होनेपर मनके द्वारा भी रासलीलाका चिन्तन, आचरण, अनुशीलन न करें, केवल शिव ही समुद्रसे उत्पन्न विषको पान करनेके अधिकारी हैं। ठीक वैसे ही अनधिकारी व्यक्ति अर्थात् अपात्र 'महापात्र' सजकर रासलीलाका श्रवण-कीर्त्तनरूप विषका पान करेगा, तो उसकी मृत्यु अनिवार्य है अर्थात् वह संसार-दशाको अवश्य ही प्राप्त होगा।

रासलीला समस्त लीलाओंका चूड़ामणि है, इसका फल भी सर्व-चूड़ामणि है। अतः इसका अधिकारी भी सर्व-चूड़ामणि होना चाहिए। कोई हृद-रोगग्रस्त, कामुक, अपात्र व्यक्ति रासलीलाकी आलोचना न करे। अज्ञान दूर करनेके लिए विश्वविद्यालयमें सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिए उसे सबसे पहले प्राथमिक कक्षाका विद्यार्थी बनना ही पड़ेगा। अर्थात् रासलीला श्रवणके लिए उसे आदौ श्रद्धासे क्रमशः रुचि आसक्ति तक आना होगा। अतएव इन्द्रियासक्त स्वल्पज्ञ व्यक्तिको रासलीलाकी सर्वोच्च शिक्षा युक्तिसङ्गत नहीं है।

कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितं।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥
(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु १/२/२९४)

अर्थात् रागानुगाकी परिपाटी यह है कि अपने प्रियतम इष्ट नवकिशोर नन्दनन्दन श्रीकृष्ण तथा अपने अभिलषित भावापन्न प्रिय सखियों श्रीरूपमञ्जरी आदिका स्मरण करना चाहिए तथा उनकी कथाओंका श्रवण करते हुए श्रीनन्दराजके व्रज अर्थात् श्रीवृन्दावन, श्रीगोवर्धन, श्रीराधाकुण्ड आदि रसमय स्थानोंमें सदैव वास करें। शक्ति-सामर्थ्य रहनेपर सशरीर वृन्दावनादिमें वास करें। असमर्थ होनेपर मनसे ही वहाँ वास करें। ये स्थान शृङ्गारमय स्थान हैं तथा रसोद्दीपक और लीला उद्दीपक हैं। विशेषतः श्रीललिता, विशाखा, श्रीरूपमञ्जरी आदि और उनके अनुगत श्रीरूप-सनातन गोस्वामीके आनुगत्यमें भजन करें। सिद्धरूपसे मानसीसेवा श्रीललिता, श्रीविशाखा, श्रीरूपमञ्जरी आदि व्रजवासियोंके अनुसार करनी होगी तथा साधक रूपसे कायिकी सेवा श्रीरूप-सनातन व्रजवासी महानुभावोंके अनुसार करनी होगी।

"नमस्तेऽस्तु दाम्ने"—मुनि देख रहे हैं कि किसी भी अवतारमें भगवान् नहीं बँधे। यहाँ तक कि श्रीबलदेव प्रभु भी व्रजमें रहकर नहीं बँधे हैं। ईश्वरोंके ईश्वर स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन, यशोदानन्दन अपनी मैयाके वात्सल्यरूपी प्रेम-रज्जुसे बँधे हुए हैं। उस रज्जुके सौभाग्यके लोभसे पहले उस रज्जुकी प्रार्थना कर रहे हैं। वह रज्जु कैसी है? यह रज्जु साधारण नहीं है। साक्षात् मैयाके वात्सल्यप्रेमका स्वरूप है। श्रीकृष्णका उदर असीम, अनन्त, अपार, अखण्ड है। उसके ऊपर, नीचे कुछ नहीं है, उसे कोई नहीं बाँध सकता। स्तनपानके समय, जंभाई लेते समय मैयाको अपने मुखमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका दर्शन कराया। दूसरी बार श्रीकृष्णने अपने सखाओंके साथ खेलकूदमें मिट्टी खा ली। सखाओंके कहनेपर मैयाने मुख खुलवाकर देखा तो, उसमें अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डको देखा। मैया सोचने लगी—मैं सो रही हूँ या जगी हूँ? अथवा मुझे किसीकी माया लग गई है। फिर कन्हैयाको

गायके गोबर, मूत्रसे स्नान कराया। ब्राह्मणोंसे रक्षामन्त्र पढ़वाया, लालाकी दीर्घ आयु एवं स्वस्थ रहनेके लिए दान-दक्षिणा दी। अरे! जो त्रिजगतको आयु, स्वास्थ्य प्रदान करता है, उसके लिए व्रजवासी दान-दक्षिणा दे रहे हैं। उसके लिए तरह-तरहकी मनौती करते हैं। यही माधुर्यलीला है। इसी माधुर्य भावसे श्रीकृष्ण वशीभूत होते हैं।

"**स्फुर-द्दीप्तिधाम्ने**"—आपका उदर कैसा है? समस्त तेजोंका आश्रय है। चराचर विश्वका आश्रय है। उसे बाँधा नहीं जा सकता। परन्तु भक्तवात्सल्यके कारण वे असीम भी ससीम होकर बँध गए। अतः उस उदरको नमस्कार है। अन्तमें "नमो राधिकायै त्वदीयप्रियायै" श्रीराधिकाको प्रणाम कर रहे हैं। वह श्रीराधिकाजी कैसी हैं—

कृष्णवाञ्छा पूर्त्तिरूप करे आराधने।
अतएव 'राधिका' नाम पुराणे बाखाने॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत आदिलीला ४/८७)

श्रीकृष्णकी सारी कामनाओंको पूर्णकर उनकी आराधना करती हैं, इसलिए पुराणोंमें उनको 'श्रीराधिका' कहा गया है।

राधाकृष्ण एक आत्मा दुई देह धरि।
अन्योन्ये विलासे रस आस्वादन करि॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत आदिलीला ४/५६)

अर्थात् श्रीश्रीराधाकृष्ण एक आत्मा हैं, विलास रसका आस्वादन करनेके लिए ही दो रूप धारण कर रखे हैं। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीजी श्रीराधाकी वन्दना कर रहे हैं—

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ-धन्यातिधन्य-पवनेन कृतार्थमानी।
योगीन्द्र-दुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि, तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि॥
(श्रीराधारससुधानिधि २)

अर्थात् योगीन्द्र जनोंके लिए भी अत्यन्त दुर्गम मधुसूदन श्रीकृष्ण, जिनके वसनाञ्चल सञ्चालनसे उत्पन्न धन्यातिधन्य पवनका स्पर्श पाकर अपनेको धन्य या कृतार्थ मानते हैं, वे ही वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा जिस दिशामें विराजमान हैं—उसी दिशाको नमस्कार है।

और भी—

वेणुं करान्निपतितं स्खलितं शिखण्डं,
भ्रष्टं च पीतवसनं व्रजराजसूनोः।
यस्याः कटाक्ष शरघात-विमूर्च्छितस्य,
तं राधिकां परिचरामि कदा रसेन॥
(श्रीराधारससुधानिधि ३९)

अर्थात् जिनके कटाक्ष-बाणोंके आघातसे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके हाथसे वेणु गिर जाता है, मोरपंखका चूड़ा स्खलित हो जाता है, अङ्गोंसे पीताम्बर भी गिर जाता है, यहाँ तक कि वे स्वयं मूर्च्छित हो जाते हैं, उन श्रीराधिकाजीकी रसपूर्ण सेवा मैं कब करूँगा? श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥
(श्रीभद्भा. १०/३०/२८)

अर्थात् "इस गोपीने निश्चित रूपमें भगवान् श्रीहरिकी आराधना की है, अतः गोविन्द हम सभीको छोड़कर इसे (श्रीराधिकाको) ही अपने साथ ले गए हैं।" श्रीराधाजी श्रीकृष्णकी नित्य प्रिया हैं। "ततश्चाराधनाद्यनपेक्षया सा नित्यप्रियैवेति।" श्रीकृष्ण श्रीराधाजीसे प्रीति करते हैं, इसलिए श्रीराधाजी सबकी प्रीतिका भाजन हैं। श्रील रघुनाथदास गोस्वामी अपनी राधा निष्ठाको प्रदर्शित कर रहे हैं—

मदीशानाथत्वे व्रजविपिनचन्द्रं व्रजवने-श्वरीं
तन्नाथत्वे तदतुल-सखीत्वे तु ललिताम्।
विशाखां शिक्षाली-वितरण-गुरुत्वे प्रियसरो
गिरीन्द्रौ तत्प्रेक्षा-ललितरतिदत्वे स्मर मनः॥
(मनःशिक्षा ९)

अर्थात् मेरी ईश्वरी तो श्रीराधाजी हैं, उनके प्राणनाथ श्रीकृष्ण हैं। श्रीराधिकाके सम्बन्धसे ही मेरा श्रीकृष्णसे सम्बन्ध एवं प्रीति है।

अलौकिक लीलाओंके हृदयमें स्फुरित होनेसे सत्यव्रत मुनि बारम्बार श्रीराधादामोदरको प्रणाम कर रहे हैं। विशेषकर श्रीराधाजीके साथ उनके अन्तरङ्ग क्रीड़ाको वर्णन करना सम्भवपर नहीं है। अनन्त लीलाओंकी अन्तिम सीमा रासलीला है। श्रीलजीव गोस्वामिपाद लिखते हैं—जलविहार, वन भोजन, वन भ्रमण, मधुपान, रास नृत्यादि लीला, रासलीलाके अन्तर्गत हैं। "नमो अनन्त-लीलाय"—इस वाक्य द्वारा बतला रहे हैं कि जिनकी लीलाका अन्त नहीं, उन अनन्त लीलाधारी श्रीकृष्णको प्रणाम कर रहा हूँ।

श्रीराधाकृष्णके परिकरोंकी कृपा छोड़कर कोई भी हमारी वाञ्छा पूर्ण नहीं कर सकता है। यदि श्रीकृष्ण प्रेम देना चाहे तो विषय-जातिका प्रेम दे सकते हैं, परन्तु हमें गोपियों जैसे आश्रय-जातीय प्रेमका प्रयोजन है, विषय-जातीय प्रेमका प्रयोजन नहीं है, हमारी अभिलाषा तो केवल श्रीराधाजीकी दासियाँ ही पूरी कर सकती है, क्योंकि श्रीकृष्णसेवाकी परिपाटी वही जानती हैं।

अन्तमें हमारी यही प्रार्थना है—

भजामि राधामरविन्दनेत्रां, स्मरामि राधां मधुरस्मितास्याम्।
वदामि राधां करुणाभरार्द्रां, ततो ममान्यास्ति गतिर्न कापि॥८॥
(श्रीविशाखानन्ददाभिधस्तोत्रम् १३१)

इति श्रीदामोदराष्टकके आठवें श्लोकको दिग्दर्शिनीवृत्ति समाप्त।